ठूँठा आम

अनुभूति द्वारा उद्वेलित मानसका अविरल भावप्रवाह 'ठूँठा आम' के स्केच और रिपोर्ताज सिरजता है। इस नयी आत्मव्यंजक रचनाके साथ भगवतशरण उपाध्यायने फिर सृजनात्मक भूमिपर पदार्पण किया है। भावोंकी अमित संपदा कल्पनाकी अगोचर भूमिपर प्रतीकोंकी अटूट शृङ्खला रचती चली गयी है; अकृत्रिम चित्रबहुल भाषा वाणीका मदिर विलास बन गयी है।

भगवतशरण उपाध्यायकी यह नव-रचना सूझ और साहसकी अप्रतिम सिद्धि है। शंका जहाँ दर्शनकी जननी है वहाँ वह समर्थोंके अन्तरको भी किस मात्रामें झिझोड़ सकती है, यह इस संग्रहमें असामान्य रूपमें अभिव्यंजित है। कृष्ण और बुद्ध, गार्गी और याज्ञवल्क्य सभी इस शंकाकी निर्मम चोटसे आतंकित हैं। अभिसारका आकर्षण जहाँ मनको मोह लेता है वहाँ वह प्राचीन जगत्के नायकोंकी उत्पत्तिका रहस्य भी खोलता जाता है। ठूँठा आमकी प्रतीकलापर 'सूना' का अत्यन्त मार्मिक उद्बोधन व्यंग्य करता है। संग्रहके स्केच सृजनात्मक साहित्यके गौरव हैं।

ठूँठा आम

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला
हिन्दी ग्रन्थाङ्क—१०३

ठूँठा आम

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९५९
मूल्य दो रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

प्रकाशचन्द्र गुप्तको—

ये कुछ स्केच कुछ रिपोर्ताज पिछले सालोंमें लिखे हैं। अपने पाठकोंके मनोरंजनार्थ समर्पित करता हूँ।

इनमें अधिकतरकी पाण्डुलिपियाँ श्री मंगलाप्रसाद पाण्डेयने प्रस्तुत की हैं। उनका कृतज्ञ हूँ।

काशी,
६-११-'५६

—भगवतशरण उपाध्याय

विषय-सूची

ठूँठा आम

वह ठूँठा आम, जो चौराहेपर खड़ा है, सदासे ठूँठा नहीं है। दिन थे जब वह हराभरा था और उस जनसंकुल चौराहेपर अपनी छतनारी डालियोंसे बटोहियोंकी थकान अनजाने दूर करता था।

पर मैंने उसे सदा ठूँठ ही देखा है, पत्रहीन, शाखाहीन, निरवलम्ब, जैसे पृथ्वी रूपी आकाशसे सहसा निकलकर अधरमें ही टँग गया हो। रातमें वह काले भूत-सा लगता है, दिनमें उसकी छाया इतनी गहरी नहीं हो पाती जितना काला उसका जिस्म है और अगर चितेरेको सिलहुएट (छायाचित्र) बनाना हो तो शायद उसका-सा 'अभिप्राय' (मोटिफ़) और न मिलेगा। प्रचण्ड धूपमें भी उसका सूखा शरीर उतनी ही गहरी छाया ज़मीन-पर डालता जैसे रातकी उजियारी चाँदनीमें।

मैंने उसे सदा ठूँठ ही देखा है। सही, मेरे जीवनके साल कुछ बे-हिसाब लम्बे नहीं फिर भी कुछ कम भी नहीं हैं और कमसे-कम दशकोंकी परम्परा तो उनमें है ही। और जबसे होश सँभाला है, जबसे आँख खोली है, देखनेका अभ्यास किया है तबसे बराबर मुझे उसका निस्पन्द, नीरस, अर्थहीन शरीर ही दीख पड़ा है। पर पिछली पीढ़ीके जानकार कहते हैं कि एक ज़माना था जब पीपल और बरगद भी उसके सामने शरमाते थे और उसके पत्तों-

से, उसकी टहनियों और डालोंसे टकराती हवाकी सरसराहट दूर-तक सुन पड़ती थी। पर आज वह नीरव है, उस चौराहेका जवाब जिसपर उत्तर-दक्खिन, पूरब-पच्छिम चारों ओरकी राहें आ मिलती हैं और जिनके सहारे जीवन अविरल बहता है। जिसने कभी जलको भी जीवनकी संज्ञा दी उसने निश्चय जाना होगा कि प्राण-वान जीवन भी जलकी ही भाँति विकल, अविरल बहता है। सो प्राणवान जीवन, मानव संसृतिका उल्लास-उपहास लिये उन चारों राहोंकी सन्धिपर मिलता था जिसके एक कोणमें उस प्रवाहसे मिल एकान्त शुष्क आज वह ठूँठ खड़ा है। उसके अभाग्योंकी परम्परा-में सम्भवतः एक ही सुखद अपवाद है--उसके अन्तरका स्नेहरस सूख जानेसे संज्ञाका लोप हो जाना। संज्ञा लुप्त हो जानेसे कष्टकी अनुभूति कम हो जाती है। सो, उस ठूँठको सर्वथा अभागा तो नहीं कहा जा सकता।

दूर-दूरके वणिक् चारों राहों अपना सौदा लिये आते-जाते हैं। आस-पासके पेड़ोंकी सघन छायामें उनके ऊँट, उनकी गाड़ियाँ खड़ी रहती हैं और उस सूखे आमसे जब-तब बस कोई पागल कभी लिपट जाता है, कोई साँड़ कभी उसे सींग मार देता है, कोई स्यार उसकी सूखी उखड़ी जड़ोंमें बैठ रातमें रो उठता है।

पर जैसा जानकारोंने बताया, कभी वह पेड़ हरा था, उसकी जड़ें धरतीकी नरम-नरम मिट्टीसे दबी थीं और उसकी छतनार डालें आकाशमें ऐसी फैली हुई थीं जैसे विशाल पक्षीके डैने। और उन डालियोंके कोटरोंमें अनगिनत घोंसले थे। पनाहके नीड़,

बसेरे। दूर बियाबाँसे लौटकर पक्षी उनमें बसेरा करते, रातकी भीगी गहराईमें खोकर सुबह दिशाओंकी ओर उड़ जाते।

और मैं जो उस पेड़के ठूँठपनपर कुछ दुखी हो चुप हो जाता तो वह जानकार कहता—उसने वह कथा कितनी ही बार कही—आँखों देखी बात है, इस पेड़की सघन छायामें कितने बटोहियोंने गये प्राण पाये हैं, कितने ही सूखे हरे हुए हैं। सुनो उसकी कथा, सारी बताता हूँ, और उसने बताया—जलती दुपहरीमें मरीचिकाकी नाचती आगके बीच यह पेड़ हराभरा झूमता, पत्तोंके विस्तृत ताजको सिरसे उठाये। आँधी और तूफ़ानमें उसकी डालें एक दूसरेसे टकरातीं, टहनियाँ एक-दूसरेमें गुँथ जातीं और जब तपी धरती बादलोंकी झरती झींसी रोम-रोमसे पीती और रोम-रोम सजीवकर उनमेंसे लता-प्रतानोंके अंकुर फोड़ देती तब पेड़ जैसे मुसकराता और बढ़ती लताओंकी डाली रूपी भुजाओंसे जैसे उठाकर भेंट लेता। लता-वल्लरियाँ जड़से, छायाभूमिसे उठ-उठकर उसके स्कन्ध देशसे, तनेसे, फूटती सन्धियोंसे, अंकुरित होती टहनियोंसे लिपट जातीं, झूम-झूम बल खातीं और हवा भी स्पर्शसे उद्वेलित स्कन्ध देशपर, तनेपर, डालों और टहनियोंपर चुपचाप अपने बालोंभरे सिर रख देतीं। उस विशाल तरुमें तब बड़ा रस था। उसकी टहनी-टहनी, डाली-डाली, पोर-पोर रस था और उसे छलका-छलका वह लता-वल्लरियोंको निहाल कर देता। अनन्त लताएँ, अनन्त वल्लरियाँ पावसमें उसके अंग-अंगसे, उसकी फूटती सन्धियोंसे लिपटी रहतीं और देखनेवाले बस उसके सुखको देखते रह जाते।

और मेरा वह जानकार बुज़ुर्ग एक लम्बी साँस लेकर थका-सा कह चलता कि तुम क्या जानो, जिसने केवल पावस और वसन्त ही देखे हैं, निदाघ और पतझड़ न देखे, केवल अंकुर और कोपलें ही फूटती देखी हैं, सूखती साँस न देखी, पीले झड़ते पत्ते न देखे ? फिर एक दिन, एक साल कुछ ऐसा हुआ कि जैसे सब कुछ बदल गया। जहाँ वसन्तके आते ही पत्रोंके-से कोमल पत्ते उस वृक्षकी टहनियोंसे हवामें डोलने लगते थे वहाँ उस साल फिर वे पत्ते न डोले, वे टहनियाँ सूख चलीं। दूर दिशाओंसे आकर उस पेड़के नीड़ोंमें विश्राम करनेवाले पक्षी उसकी छतनार डालोंसे उड़ गये। जहाँ अनन्त अनन्त कोयलें कूका करती थीं, मधुरसे मधुर पपीहे प्रोपितपतिकाओंके साजनोंको टेरा करते थे, बौरायी फुनगियोंपर भौरोंकी काली पंक्तियाँ मँडराया करती थीं, सहसा उस पेड़का रस सूख चला।

और जैसे उसे बसेरा लेनेवाले पक्षी छोड़ चले, जैसे कूकती कोयलें, टेरते पपीहे, मँडराते भौंरे उसके अनजाने हो गये वैसे ही लता-वल्लरियाँ भी उसके स्कन्ध देशसे उसकी फैली मज़बूत डालियोंसे, उसकी मदमाती झूमती टहनियोंसे धीरे-धीरे उतर गयीं, कुछ सूख गयीं, मर गयीं। उस लता-सम्पदाके बीच फिर भी एक मधुर मदिर पुष्पवती परागभरी वल्लरी उससे लिपटी रही, और ऐसी कि लगता कि प्रकृतिके परिवर्तन उसपर असर नहीं करते। वासन्ती जैसे सारी ऋतुओंमें रसभरी वासन्ती बनी रहती। सहकार वृक्षसे लिपटी वल्लरियोंकी उपमा कवियोंने अनेकानेक दी है पर वह तो साहित्य और कल्पनाकी बात थी, उसे कभी चेता न था,

पर चेता मैंने उसे अब, जब उस एकान्त वल्लरीको उस प्रकाण्ड तरुसे लिपटे पाया। लगा जैसे कालठमक गया है, जैसे सदियाँ एकके बाद एक ज़मानेकी राह उतरती जायेंगी पर वल्लरी पेड़से अलग न होगी, दोनोंके सम्बन्धमें व्यवधान न होगा। और उन्हें एक दूसरेसे लिपटे जो कोई देखता उनके चिर बिलासका, चिर सुखका, कभी अन्त न होनेवाले सम्बन्धका आशीर्वाद देता।

पर विधातासे किसीका सुख कब देखा गया ? वल्लरी वृक्षसे अलग हो गयी, वृक्ष सूख गया, तुम्हारे सामने आकाशका परिकर बाँधे वह खड़ा है।

पर वल्लरी ? वल्लरी सूखी नहीं, मात्र उस वृक्षसे हट गयी। उस दूसरे वृक्षको देखते हो न ? उस तनवान प्राणवान पुलकित, रसालको जिसपर आज भी कोयल कूकती है, पपीहे टेरते हैं, भौंरे मँडराते हैं। उसी तरुसे वह वल्लरी अब जा लिपटी है।

यह रसाल जीवनके शैशवसे निकलकर तारुण्यके उल्लाससे उलझा हुआ है, उसके जीवनके पोर-पोरसे सरकती हुई वह वल्लरी उससे जा गुँथी है। उसकी जड़ोंमें एक दिन वह वल्लरी उस वृक्ष-पुरातनकी डालियोंसे जा गिरी और उसके पोर-पोर चढ़ती सारे तनपर उल्लाससे छा गयी, उसके मस्तकपर उसने अपना मदिर मकरन्द बिछा दिया और अब वह उसे सर्वतः घेरकर उसकी टहनी-टहनी छाये घूमती है।

और यह अभिराम नूतन वृक्ष ?

उस ठूँठकी तरफ़ देखो जिसकी कायामें रस कहीं दीखता नहीं। पर एक दिन जब उससे रस चूता था, एक दिन जब वह

रसाल था, जब सुए उसके खट्टे आमोंको अपनी तीखी चोंचोंकी चोटसे मीठा कर देते तब अकाल अनेक फल पेड़से टपक पड़ते। उन्हींमेंसे पके सूखे फलकी गुठली एक दिन आँधीसे थोड़ी दूर पर जा गिरी। मिट्टी धीरे-धीरे उसकी ऊपर उभर आयी। पावस-की फुहारोंने मिट्टी उसके ऊपर बिछायी और बरसातके बीच धीरे-धीरे उस मिट्टीसे एक अंकुर फूट पड़ा। उसकी पीली-सफ़ेद एक सूतकी जड़ मिट्टीके ऊपर आ गयी थी और उससे भी ऊपर दो दालें थी जैसे गुठलीकी दो रानें, और ऊपर एक लाल अकेला नरम पल्लव था।

समय बीतता गया। ऋतुओंका संचरण अपने वृत्तमें घूमने लगा और जैसे-जैसे ऋतुएँ अपने वृत्तमें घूमती वैसे ही वैसे उस अंकुरमें साँस पड़ती जाती। दूरका वृक्ष उस बढ़ते अंकुरको जेठ धूपमें अपनी छाया देता, पालेमें अपनी छायासे उसकी सर्दीका निवारण करता और उसके तनते तनको देख जैसे अघा उठता।

और एक दिन जब अपनी गुठलीसे निकले उस अंकुरपर वृक्षने सन्तोषकी निगाह डाली, उसके ऊर्जस्वित उन्नत कायको देख वह उल्लसित हुआ तभी सहसा उसकी दृष्टि उस वल्लरीपर जा पड़ी जो उस तरुण वृक्षके रोम-रोमको घेरे, उसके नंगे छतनार मस्तकके ऊपर एक साँस झूम रही थी। वृक्षकी दृष्टि सहसा लौटी, अपने तनपर पड़ी और उसे उसने सूना पाया - उसकी चिरन्तन वल्लरी वहाँ न थी।

उसके सारे बचे पत्ते सहसा मुरझा गये, सहसा पीले पड़ गये, एक-एक कर नीचे गिर गये। टहनियाँ डालोंमें समा

गयीं, डालें जैसे तनेमें खो गयीं, तनेको सँभालनेके लिए जड़ें मिट्टीके भीतरसे उभर आयीं और तबसे वह महाकाय तरु जिसके नीड़ोंमें अनन्त स्नेह पलता था ठूँठ हो गया और आज युगोंसे बहते जीवनके चौराहेपर वह बदलती परिस्थितियोंका मूर्तिमान त्रास बना चुपचाप खड़ा है। वृक्ष जड़ हो गया है, आज निस्पन्द है, निरभिलाष, सुन्न!

"पर एक बात कहूँ? मानोगे?" जानकारने पूछा।

कहा, "मानूँगा।" भला मानता कैसे नहीं, बुजुर्गकी कड़ु आयी आँखें अब भी बता रही थीं कि उसकी कथाका अक्षर-अक्षर सही है, फिर सन्देहको स्थान कहाँ था? कहा, "मानूँगा, बोलो।"

अद्भुत भाव-संज्ञासे पुलकित होता-सा बुजुर्ग कहता, "वृक्ष सूख गया है, कहते हैं, निर्जीव है, पर मैंने कुछ देखा है, और जो देखा है वह बस देखनेकी बात है, कहनेकी नहीं—जब नवतरु वसन्तके निरालस रस-वितानमें अँगड़ाती हुई अपनी वासन्ती वल्लरीको अभिनव, तरुण, मृदुल प्यारसे भेंटता है तब जैसे इस ठूँठे पेड़में सहसा साँस पड़ जाती है, और मैंने देखा है उसकी एक शिरा आज भी हरी है। उठो, तुम भी देखो मधुकी इस डहकती रजनीमें जब नवतरु वल्लरीके पाशमें बँधा अँगड़ा रहा है वह शिरा निश्चय हरी दीख पड़ेगी—उठो, देखो!"

उठा, पास जाकर मैंने देखा—बुजुर्गकी उँगलीकी सीधमें सूखे पेड़के अन्तरालमें एक व्यंजित शिरा जैसे हरी हो आयी थी—पन्नेकी-सी हरी—

• • •

सूना

सूना, भयानक सूना, जैसे विश्व सिमटकर इन चट्टानोंकी सीमाओंमें आ गया हो, और उनमें मैं अकेला हूँ। जैसे अँधेरा होता है, घुप अँधेरा, वैसा ही यह सूना है। एक पत्ता नहीं, जो हिले, खड़खड़ाये, और गतिका, जीवनका बोध हो। प्रकृति सूनेमें व्यभिचार नहीं उत्पन्न करना चाहती, इससे गोलाम्बरके नीचे, क्षितिज तक सूना है। एक परिन्दा नहीं, दाईका सूत नहीं, शायद हवा तक नहीं।

सालों, दशकोंके सपने सही करने आया था। मित्रने सगान मित्रसे कहा था, "बस, आपका काम उन्हें गिरफ़्तार कर लाना है, मेरा उन्हें क़ैदमें डाल देना।" और मेरे उस प्यारे दोस्तने मुझे उस खुली क़ैदमें डाल ही दिया। काम बन्द इस बड़े नगरमें, अनजाने देशमें, दोस्तोंके अभावमें मिलना बन्द। गेस्ट-हाऊसके ये लगातार चले गये ठोस-बड़े-गहरे-ऊँचे कमरे, जिनकी फ़र्श पत्थरकी पट्टियोंसे ढकी, छत पत्थरकी पट्टियोंसे ढकी, जोगिया रंगसे रँगी मोटी दीवारें प्रभावतः जैसे पत्थरकी पट्टियोंसे ढकीं।

और ये कमरे, कुर्सियों, आराम-कुर्सियों, मेज़ों, छपरखटों, पलंगों, दरियों, ग़लीचों-गद्दियोंसे भरे, छतोंसे झाड़-फ़ानूस लटकाये, और इन सबमें अकेला मैं, फ़क़त मैं, इन सारे कमरोंमें मैं

अकेला। वसन्त निपट गया। पतझड़ आयी। मार्च अप्रैलमें खोया, पर अप्रैल एक डग न सरके, जैसे अभिशप्त मन्त्रजड़ सर्प।

सूनेसे दिनमें डर लगने लगा। हाँ लग सकता है डर दिनके सूनेमें भी, लगता है, लगने लगा था। लगता जैसे कुर्सियोंपर कोई बैठ उठेगा, जैसे उनकी जड़ता सचेत हो उठेगी। और यह पलंग जिसपर सोता हूँ, दिनमें पड़ा रहता हूँ, बेबस। और चुपचाप इसके ऊँचे सिरहाने-पैतानेपर नज़र डालता हूँ, बेचैनीमें कभी पैताने सिर करता हूँ, कभी सिरहाने। पर वह डर जैसे घेरे-घेरे रहता है। ऊँचाई दोनों ओरकी बराबर है, काले आबनूसकी चिकनाहट स्याहीके साथ अपना डरावना साया डाल देती है। लगता है, पलंगपर नहीं ताबूतमें सोया हूँ। आबनूसी ठोस सपाट सिरहाना-पैताना ताबूतका ही असर पैदा करते हैं। तूतनख़ामन जैसे ज़िन्दा पड़ा है, ज़िन्दा दरग़ोर, इस स्याही-पुते पलंगकी गहरी चहारदीवारीमें क़ैद, जिसकी ऊँची छतको आबनूसके ही खम्भे उठाये हुए हैं। क़ाहिराके अजायबघरकी सहसा याद आ जाती है, उस ठोस सोने, ठोस लकड़ीके कमरानुमा ताबूतकी, और तूतनख़ामनकी 'ममी' पर उसकी सोलह सालकी प्यारी सुन्दर बीबीके छोड़े हारकी, जिसके फूल कुम्हला गये थे। और यहाँ भी तो सामने उस तसवीरपर एक गजरा पड़ा है, जिसके फूल कुम्हला गये हैं, विवर्ण हो गये हैं।

और ये झाड़-फानूस, बेशक़ीमती झाड़-फ़ानूस, जो एक गुज़री हुई दुनियाकी याद दिलाते हैं। उस दुनियाके अँधेरेको इनकी हज़ार-हज़ार शमाएँ भी दूर न कर पाती थीं, पर जिनपर

परिन्दे टूटते थे, शोरे ग़ज़लें-रूबाइयाँ पढ़ते थे। पर आज ये झाड़-फ़ानूस भी जैसे मज़ारके सिंगार हो गये हैं, बुझे चिराग़की लौ, अपनी बेबसीके शिकार। काश, उनके पैर होते! फिर इन कमरोंके जंगल, कुर्सियों फूलदार मेज़ोंके जाले भी उन्हें नहीं रोक पाते। झमझम करते उन्हें तोड़ते, ख़ुद टूटते, चले जाते, इस क़ैदसे दूर, जहाँ उन्हें कोई नहीं जानता, कोई न समझ पाता, उनके असमयकी लँगड़ी रौनक़पर जहाँ कोई मुसकराता नहीं।

और उन्हींकी तरह मैं भी कहीं नहीं जा पाता। इन्हीं कमरोंकी क़तारमें, जिसपर मैं भी जैसे बेबस टँक गया हूँ, छपर-खटके ताबूतकी गहराइयोंमें, और लगता है, उसीमें दबा रहूँगा, क़यामत तक। फिर यह क़यामत भी कुछ आज नहीं आने वाली है! कोई शोख़ अंगड़ा भी नहीं पड़ता कि जिस्मकी सारी रगें खिंच जायँ, कि ताबूतोंमें सदियोंसे पड़े तूतनख़ामन करवट ले लें, कि क़ब्रोंकी उभरी छाती दरक जाय!

दिनका साया साँझके धुँधलकेमें खो जाता है। फिर साँय-साँय करती रात आती है, रात, चोर और चाँद लिये। चाँद कम ही आता है, चोर अधिक। रग-रगकी सीवनमें अँगड़ा कर सीवन जैसे तोड़ देता है, घाव हरे हो आते हैं। यादें बिसूरने लगती हैं। रात कटती नहीं। उल्लू पुकार उठता है। कुर्सियाँ, मेज़ें, पलंग जैसे जी उठते हैं। लगता है, उनमें कोई बैठा है, हर-एकमें छायाएँ जैसे चलने लगती हैं। ताबूतोंसे भरा पिरामिड विकराल स्वरसे रो उठता है।

बत्ती जलाता हूँ, सभी आधार बदस्तूर हैं, कुर्सी, पलंग ख़ाली,

सूने। बत्ती बुझा लेता हूँ, दिलको हाथोंमें भरकर कोई मसल देता है। जिस्मका रोआँ-रोआँ खड़ा है। अपनी ही साँस तूफ़ान भर लाती है। अकेली साँस, हवाका साज़िश-भरा फ़ितूर, ग्यारहों प्रान लिये फुस-फुसाती है। आँखें बन्द कर लेता हूँ, गोया अँधेरेमें कुछ दीखता था, जो अब न दिखेगा!

और बेरौनक़ दिन निकल आता है, दिन, जिसकी सुबह तक जलाती है, जिस सुबहकी किरन चमकते तीरकी तरह आँखोंको चीरती चली जाती है। जलती दुपहरी, यद्यपि इतनी नहीं जितनी हिन्दुस्तानकी। यह दकन है, हैदराबाद, जिसकी आसफ़जाही दुनिया गो आज बेरौनक़ है, कभी सूरजपर थूकती थी।

दुपहरी साँय-साँय, आधी रात-सी। पासके कमरेमें एक कलाकार दो दिनसे आ ठहरे हैं। साथ ही उनके कलावन्ती बीवी भी हैं। कभी-कभी महलके उन बच्चोंकी हँसी हवाके साथ इधर उड़ आती है, जो उनके पास आ जाते हैं। जब-तब कुछ टख़-टख़-की आवाज़ आती है, कैरमकी मारी गयी गोटकी आवाज़-सी, और जब-तब कुछ ख़स-ख़सी आवाज़, जब शायद कलावन्त-कलावन्ती नये चित्र बनानेके लिए रंग फेटने लगते हैं। साथ ही मेरे मानस-चित्र भी बनने-बिगड़ने लगते हैं। कमरेके एकाकीपनसे ऊबकर ऊपर चला जाता हूँ, छतपर। छत लम्बी है, बेइन्तहा लम्बी। सूना जैसे बिखर जाता है, क्योंकि वह कमरेका सूनापन नहीं है, दीवारोंसे बँधा-बँधा। पर है यह भी बँधा-ही-बँधा, गो इसकी दीवारें दूरके क्षितिज तक फैली हैं।

दाहिने वह अकेली सूखी पहाड़ी, जो दिनमें सूरजकी चमक

लौटा कर मारती है, जिसके डरसे कमरेकी खिड़कियाँ दिनमें बरा-बर बन्द रखता हूँ। वह अकेली पहाड़ी, जिसकी चोटीपर नीम नंगा खड़ा है। सामने बंजारा-हिलकी पहाड़ियाँ बग़ैर सिलसिलेके टूटती-बिखरती चली गयी हैं। दूर तक बियाबाँ फैला है। प्रकृति जैसे मुर्दा हो गयी है, निर्जीव। यह पास सामने किसीका बनता हुआ ऊँचा मकान है, मक़बरे-सा सिर उठाता ही चला जा रहा है। रोज़ देखता हूँ, एक ईंट ऊपर चढ़ जाती है, आसमानकी छातीमें। किसीने बताया, ज़िन्दा मुर्दोंका गारा लगा है उसमें, हड्डियोंकी ईंटें लगी हैं।

दूर सामने चट्टानी ऊँचाईपर, चट्टानी बुनियादपर भी वह अनेक बुर्जियोंवाली, अनगिनत कँगूरोंवाली इमारत है। उसमें आज दफ़्तर भरे हैं, तुर्की पाशाओंकी इमारत-सी उस आलीशान मंज़िल में। पर हटा दो उसे भी मेरे सामनेसे! मेरी क़ैदपर वह हँसती है। मैं उधरसे नज़र फेर लेता हूँ। फेरकर उसी दाहिनेवाली पहाड़ी-पर डालता हूँ, जिसपर ठूँठा नीम नंगा खड़ा है और जिसकी एक दीवार प्रधान मन्त्रीके निवास, शाहमंज़िलकी उघाड़ ढकती है।

और फिर बायें अनेक-अनेक पेड़ोंपर नज़र डालता हूँ जो सभी नंगे हैं। विशाल, पर नंगे, पीपलसे सेमल तक। पीपलके अनेक दरख़्त हैं, पर आज वे सभी बग़ैर पत्तोंके लाजके ठूँठ खड़े हैं। पीपलको अश्वत्थ कहते हैं, सोचता हूँ। शायद कभी उसकी जड़से, डालसे घोड़े बँधते थे। आज उनपर घंट बँधते हैं, उनकी डालियोंसे प्रेत झूलते हैं, उनकी छायामें पितर सोते हैं। विकराल ऊँचे पीपल, जो स्वयं भूत-से खड़े हैं, मादरज़ात नंगे। नी होगी

इस पीपलने गौतमको 'सम्यक् सम्बोधी', मुझे तो यह आक्रान्त करता है, इसकी दूर तक फैली डालियाँ, सब प्रेतकी तरह मुझे जैसे दबोच लेती हैं।

सामनेकी पहाड़ियोंकी ओर निगाह लौटा लेता हूँ। नंगे पेड़ों से नंगी पहाड़ियोंकी ओर, नंगी पहाड़ियोंसे नंगे पेड़ोंकी ओर। चट्टानोंसे क्या मोह? पर पत्थरसे भी कभी-कभी मोह हो जाता है। किसीने कभी मुझसे कहा भी था, दर्द-भरी आहके साथ, किसी हसीनाने। नाम भी याद है, पर नाम ज़बानपर लाना मना है, न लाऊँगा। याद आयी जा रही है, जब इस दूर देशमें अपनी सूनी क़ैदमें इन चट्टानोंको देखता हूँ, पत्थरको प्यार करने लग जाता हूँ। तो उसने कहा था—"देख इस अभागेको, इस मग़रूर आलिम को, दुनिया रंग-बिरंगे महकते फूलोंसे आबाद है, मह-मह कर रही है, और यह बुतोंसे इश्क करता है। यह कम्बख़्त बुतपरस्त!"

आह, मेरी हसीन ज़ालिम बुतशिकन! काश तुम्हारे नामका तारा टूट न गया होता! तुम अपनी टहनीपर होतीं और मैं अपनी इस क़ैदसे लाचार न होता! पर तब क़ैदकी लाचारी आड़े न आती। पत्थरकी दीवारोंको मैं तब तोड़ देता, पत्थरको प्यार न कर लौट पड़ता चमनकी ओर, उन टहनियोंकी ओर, जिनकी बुलन्दीमें वह मस्त टहनी नाचती होती, जिसपर तुम खिली थीं।

पर क्या पत्थरसे, बुतसे प्यार करना प्यार करना नहीं है? और मेरा मन इस हैदराबादी दुनियासे उचट पड़ता है, इसके सागरों-सरोवरोंको लाँघ, जंगलों-पहाड़ोंको लाँघ, मिस्रकी ओर लपक

जाता है, जहाँकी रेतमें नील सात धारोंमें सोती है, जहाँके मुर्दोंके मुल्कमें क्लियोपात्राने अपना अमर लोक बसाया था। कहाँ जा पहुँचा दिमाग़ ? ख़ाली सूनेपनको वही भरता जा रहा है। इसलिए क्लियोपात्रा। और क्लियोपात्रा क्यों ? क्लियोपात्रा तो साधन-सहारा-मात्र थी। बात तो पत्थरकी थी।

हाँ तो, पत्थरसे प्यारकी। और क्या पत्थरसे कोई प्यार नहीं करता, जब नाज़ुक दिल संगमरमर बन जाता है ? पर वह तो उत्प्रेक्षाकी बात है। उसकी जाने दो, उसकी सुनो, उस मनचले ग्रीककी, जिसने क्नीदस नदीके तट खड़ी आफ़्रोदीतीकी नंगी बेबस कर देनेवाली मूरतको बेआबरू कर दिया था। वह इतिहासकी बात है, रोमांचक इतिहासकी। क्लियोपात्राने, एकके बाद एक, रोमन जनरलको अपने रूप-जालमें डाल भोगा था, पाम्पेको दस बरसकी आयुमें, सीज़रको बारहकी आयुमें। और अब यह अन्तोनी था, हमउम्र बाँका दिलेर अन्तोनी, जिसकी खुली छातीमें उसने अपनी नुकीली ठुड्डीकी चोट की थी। ख़ुशीमें एेलान किया था—"कोई प्यारको ठुकरा नहीं सकता, न पशु, न मानव, न जड़, न चेतन।" और उस तरुणने अफ़्रोदोतीकी मूरतको बेआबरू कर दिया !

फिर क्यों सोचता हूँ उस क्लियोपात्राको ? क्यों उसके जारको ? क्योंकि तनहाई है, सूनापन है, जिसे भरना है और जिसे दूर नहीं कर पाता। और घने जाता हूँ। मन बेबस है, उड़ा जा रहा है सिकन्दरियाके उन महलोंमें, जहाँसे अन्तोनी अभी-अभी घोड़ेपर उड़ गया है। पूछती है दासीसे, "कैसे जा रहा है ?" दासी

कहती है, "उड़ा जा रहा है घोड़ेपर।" फिर रानी जैसे शेक्सपियर उगल पड़ती है—"हैपी द हार्स टु बेयर द वेट ऑव ऐन्टनी!" कितना फूहड़, पर कितना पुरअसर, कितना सही!

रोम और सिकन्दरिया। सीज़र और क्लियोपात्रा। क्लियोपात्रा रोममें। सीज़रके 'विला' में। डायरी लिखती है—"रोम मुझ जादूगरनी रानीको देखने उमड़ पड़ा है। यह कौन है? चिन्ना। यह दूसरा? कैसियस। और ये क़तारमें आख़िरी? ओक्तेवियस और उसका साथी अग्रिप्पा। ओक्तेवियसके चेहरेपर घृणा है, अग्रिप्पा अपनी गिद्धकी-सी आँखें मेरी छातीके उभारमें घुसाये जा रहा है। जी चाहता है, कह दूँ, छेद दे, औरतकी शक्लके मर्द, मेरी छाती, पर मुझे मजबूर न कर!" क्लियोपात्रा डायरीमें लिखती जाती है—"वरना कह दूँगी, तेरे करम, कि तू इस अपने साथीके साथ सोता है, इस ओक्तेवियसके साथ, जैसे अन्तोनी सीज़रके साथ सोया, जैसे सीज़र बिथूनियाके साथ सोया, जैसे सिसेरो ग्राचसके साथ सोया, और कि ग़ुलाम स्पार्तकसकी चोट अभी तुम्हारी पीठोंपर है!" पर यह क्लियोपात्राकी डायरीकी बात है, चाहे उस ओक्तेवियसके सम्बन्धकी ही क्यों न हो, जो बादमें ओगस्तस बना, चाहे उस अग्रिप्पाके सम्बन्धकी ही क्यों न हो, जो बादमें विश्वविजयी बना।

और वह दूर पहाड़ियोंके पीछे सूरज यकायक डूब जाता है। उसका बिखेरा सोना क्षितिजको रँग देता है। मैं अभी देख रहा हूँ उधर ही। उस रासेलसकी तरह जिसकी कहानी डाक्टर जानसनने लिखी है। बहुत दिनों पहले पढ़ी थी। सही-सही याद भी

नहीं है, शायद रासेलस ही नाम था, शायद वह अबीसीनियाका शाहज़ादा था, पत्थरकी दीवारोंके पीछे क़ैद था, जैसे मैं भी आज क़ैद हूँ। उस रासेलसकी याद बहुत आती है। बास्तिलके उस क़ैदीकी भी, जो क्रान्तिके बाद जेलमें लाये जानेपर अन्धा हो गया था। आँखें फाड़-फाड़ जब-तब मैं भी देख लिया करता हूँ, दुरुस्त तो हैं आँखें, कहीं मैं भी तो अन्धा नहीं हो गया!

अँधेरा छा जाता है। सीढ़ियोंके नीचे उतर जाता हूँ। अँधेरा है। सम्हलकर उतरता हूँ, कहीं चूक न हो जाय। खाना आ जाता है। नौकर खड़ा है। खा लेता हूँ। कुछ बोलता नहीं भर-सक, गो वही जीवनका एहसास कराता है। केवल कभी-कभी अनावश्यक पूछ लेता हूँ—"दिन कौन है?" जिससे जान लूँ कि ज़बान अपना काम अभी करती है, आवाज़ मरी नहीं, कान सुन लेते हैं। कुछ जानकारीके लिए नहीं, क्योंकि एक दिन दूसरे दिन-से भिन्न अर्थ नहीं रखता, क्योंकि आज और हज़ार साल पहलेकी तारीख़ोंमें अब कोई भेद न रहा।

ग़ज़बकी मायूसी है। दिल बैठा जाता है। मनोरथ मिट गये हैं, चेतना मूढ़ हो चली है, कल्पनाका रथ चूर-चूर है।

× × ×

इस मायूसीको रोकना होगा। मायूसी भी कुछ ऐसी नहीं कि आसको पलने दे। मुरझायी आस पनप उठती है, जैसे मुरझायी पौध। ज़िन्दग़ी मौतकी है ज़रूर, पर मरना भी कुछ आसान नहीं। ज़िन्दगी जीकर रहती है, मौतके डंक और ज़हरके बावजूद। मायूसीको जीतना होगा।

उसी तरह जिस तरह नीचे सूखे बाग़के उस कोनेमें चम्पाने सुखानेवाली गर्म लूको जीता है, जिसकी जीनेकी मस्तीसे मौतको इस अप्रैलमें पाला मार गया है। सूखे और गरमीके आलमने पीपल और पाकड़को बेपर्द कर दिया है, पर चम्पा सदाकी तरह आज भी नौबहारके हरे राजमें खड़ा है। उसकी हरी पत्तियोंके घने छत्रमें लाल कलियाँ चिटख रही हैं, उसके गहरे सुर्ख़ फूल पंजेकी झुकी उँगलियोंकी तरह जिस्मको काँटा बनाये हुए हैं, जिससे गर्मी उनका दामन नहीं छू पाती, जैसे उनकी तेज महक रस चूसनेवाले शोषक भौंरेको पास नहीं फटकने देती। उसके छत्रके नीचे तरी सिमटकर जैसे आ बैठी है।

पीपल-सेमलको जैसे फ़ालिज मार गया, पर यह चम्पा आज भी सरस है, मायूसीसे दूर, मौतसे दूर। मौतकी ही तरह ज़िन्दगी की छूत भी है, उससे भी अधिक संक्रामक। सोतेसे निकली एक पतली अकिंचन धारा चट्टानोंकी रुकावटपर सात-सात धाराओंमें उबल पड़ती है। हज़ार धाराओंमें फूटकर बह चलती है, उद्दाम अविकल धारा, जीवनका नाम सार्थक करती, सूखेको हरा करती, मुरझायेमें प्रान भरती।

मादक मायूसी दूर करनी होगी। चिट्ठियोंसे मेज़ ढकी है। चिट्ठियाँ, जो शक्ति और प्रेरणाके लिए आयी हैं। उस लड़कीकी चिट्ठी, जो हज़ार मुसीबतोंमें ग़ुरबतके सायेसे उठ, मौतसे लड़कर जीत चुकी है और लड़खड़ाते पैरों मायूसीसे लड़ रही है। और उस साहित्यकारकी, जिसका फ़ौलादी जिस्म संघर्षसे कमज़ोर पड़ गया है, पर जिसकी क़लम धुँवाधार चल रही है और चलती

जायेगी, जबतक वह सारा, जिसने ईमानवालोंको बेग़ैरत कर दिया है, उसकी नोकके नीचे सिमटकर चलनी न हो जाय। फिर उस ग़रीबकी, जिसका खीसें निपोरकर लोकप्रिय बननेवाला अफ़सर अपने मुल्क़की तेज़ सुइयोंसे उसके मर्मको छेद रहा है। जानता हूँ, ऐसे अफ़सरोंको, जो अपने अफ़सरोंके सामने भीगी बिल्ली बन जाते हैं, अपने मातहतोंके सामने गुर्राते भेड़िये। पर यह सारे अलग-अलग नहीं, एक ही साबुत शक्लके अनेक-अनेक चेहरे हैं, मुसल्लमके अनगिनत टुकड़े।

तुम अकेले नहीं हो, तुम्हारा मायूस होना इन्सानियतके प्रति कृतघ्नता है, चाहे तुम क़ैदमें ही क्यों न हो। याद आती है कविकी पंक्ति—"तुमने बहुत सहा जीवनमें, लेकिन और सहो!" सहना होगा, मानवताके प्रति कृतज्ञ होकर, उसकी रक्षाका पह-रुआ बनकर।

और सहसा जैसे ज़माना बदल जाता है। क्लियोपात्राकी विलासिताकी याद नहीं आती, उस ग़ुलामकी आती है, इरासकी। आक्तेवियसके साथ अन्तोनी मेडिटरेनियनमें लड़ रहा है। उसकी प्रेयसीके सैकड़ों नीले पालों वाले जहाज़ रोमके जहाज़ोंसे टकरा रहे हैं। सहसा क्लियोपात्राका सोया बिलास जाग उठता है। उसके खो जानेका डर उसे दहशतसे भर देता है। रानी भागती है, उसके जहाज़ भागते हैं, उसका जार अन्तोनी भागता है। अन्तोनी, वह अजेय सिपाही, जिसकी पीठ यूरोपने नहीं देखी थी, और ग्लानि-भरा सिपाही घुटनोंपर अपनी तलवार तोड़ देता है। ग़ुलाम आता है, सिपाही कहता है—"इरास, मैंने कभी तुम्हारी

जान बचाकर तुम्हें आज़ाद किया था, आज उसका बदला चुका दो !" नमकहलाल ग़ुलामकी आँखें खुशीसे हुक्म बजा लानेके लिए फैल जाती हैं। कान हुक्म सुननेके लिए आतुर हो उठते हैं। वह सुनता है—"हेरास, ले यह खंजर और मेरे जिगरमें भोंक मुझे ज़िन्दगी बख्श दे !" हेरास चुप है। स्वामी बार-बार इसरार करता है। हेरास मजबूर हो जाता है। कहता है—"अच्छा, मुँह फेर लो, मालिक ! वरना तुम्हें मारते तुम्हारे उस ख़ूबसूरत चेहरे-को कैसे देख सकूंगा, जिसने मुझे कभी आज़ाद किया था और जिसके बाल-बालपर हज़ार-हज़ार हेरास कुर्बान हैं ? और अपने हाथोंको इधर फैला दो, जिनपर तुम्हारा सिर गिरे !" मालिक अंजली फैलाकर मुँह फेर लेता है। आवाज़ होती है 'खप्प' ! अन्तोनीके हाथोंपर कुछ गिरता है। अन्तोनी सहसा घूम जाता है। ग़ुलामका धड़ ज़मीनपर तड़प रहा है, सिर मालिकके हाथोंपर मुसकरा रहा है। मानवताके प्रति यह कृतज्ञता है। उसके लिए बन्धन तोड़ना है।

और सामनेकी पहाड़ियाँ जैसे नज़रसे ओझल हो उठती हैं। उनके ऊपर घनीभूत धुएँकी तरह एक आवाज़ उठती आ रही है, उमड़ती घुमड़ती आवाज़। उस जुलूसकी आवाज़, जिसे महादेव-सिंह लिये जा रहा है, जो धारा-सभाकी ओर बढ़ता जा रहा है। और बाज़ूमें, सामने रिसाला है, चट्टानों-सा खड़ा। 'हाली' (हैदराबादी सिक्के)की बदलती तक़दीर मज़दूरोंकी मजूरीसे टकरा गयी है। मज़दूरोंका जुलूस बढ़ चलता है। लाठियाँ उठ पड़ती हैं, आँसू-बम फट पड़ते हैं। महादेवसिंह लड़खड़ा कर गिर

जाता है । जन-कवि मंजीतकी आवाज़ मज़दूरोंकी आवाज़के ऊपर उठ हवाके परोंपर चढ़ चलती है । लाठीकी चोटसे वह गिर जाता है, बेहोश हो जाता है । पर आवाज़ बुलन्द है, क्योंकि आवाज़ कभी नहीं मरती । वह हवाके डैनोंपर है । सामने पहाड़ियोंपर, उनकी बिखरी चोटियोंपर वह आवाज़ धुएँ-सी छायी हुई है । ज़िन्दगी अस्मतके लिए लड़ रही है ।

उसी तरह जैसे ख़ूनकी तरह चम्पाका वह लाल फूल । और मैं छतपर खड़ा उसे देख रहा हूँ । मेरा सूना भर उठता है । मेरी कैदकी प्राचीरें गिर जाती हैं । देखता हूँ, छतकी मुँडेरको छेद पौधका अकेला, साँससे भी कोमल, पत्ता ललक रहा है । अभी उसकी दालें भी नहीं मरीं और वह जीवित मौतको ललकार रहा है, पत्थरकी छाती फोड़कर निकला है । लगता है, कहीं कुछ हो गया है ।

दाहिनेकी पहाड़ीका वह ठूँठ नीम हरा हो चला है । उसके नीचे बकरी अपने नन्हें परिवारको लिये चर रही है, और ढोरके रखवालेने कानपर हाथ धर, तान छेड़ दी है । अभी हाल रिमझिम हुई थी । मेहके स्पर्शसे धरासे सुरभि उठी । पवन उसे तरंगित डैनोंपर ले उड़ा । दिगन्त गमक उठा । वसुधाने अपने ख़ज़ानेकी गाँठें खोल दीं, उसका पोर-पोर सब्ज़ उमग उठा । नीलाम्बर दूर पहाड़ियोंके पीछे, क्षितिजकी संधिपर झुका, लजाती धराको चूम रहा था ।

क्या कुछ हो गया ? जैसे देवताओंका मौसम जो मौसमी आसारों-से अलग है । देवता हँसा कि नन्दनमें पराग बरस पड़ा, देवता

रोया कि दुर्दिन छा गया। पीपल जो ठूँठ विकराल खड़ा था, प्रेतोंका भार लिये, आज गा रहा है। छिन-भरमें वह हरा हो उठा है। नन्हें-नन्हें करोड़ों पत्ते चाँदीके महीन वरक़ोंकी तरह डालोंसे हिल रहे हैं। अनन्त टहनियाँ लहलहा उठी हैं। पीपलसे पीपलपर नज़र जाती है, वही राज़ है, यकसाँ लहलहाते चाँदीके वरक़। हरियाली जवानीपर है। ज़िन्दगी तीर मारती चली गयी है।

मायूसी स्याह चादर फेंक काफ़ूर हो चुकी है, ज़िन्दगी डालों-पर पेंग मार रही है—दरबेके वे अड़ियल कबूतर, उधर अपने नीड़ोंसे बाहर अजब मस्तीमें मचल रहे हैं। कबूतर कामके वाहन हैं, जीवनके प्रतीक। कबूतरीके पीछे उड़ रहा है वह कबूतर। तार-तारपर वह बैठती है, तार-तार वह उसका पीछा करता है, फिर पकड़ लेता है। कबूतरी जैसे हँसकर कबूतरके डैनोंकी आड़-में आ जाती है। निरालस, जागरूक कबूतर विजयमें 'गुटर-गूँ!' कर उठता है, स्नेहसिक्त कबूतरी अपने कबूतरकी गरदनमें चोंचें चुभाये जा रही है, चुभाये जा रही है। • ● ● ●

आदमीका हिया और डाकिया

आदमीके हिये और डाकियेसे भला क्या ताल्लुक़ ? फिर भी दोनोंका नित्यका सम्बन्ध है। डाकिया भी वैसे वैसा ही जड़ है, उतना ही, जैसा और जितना यक्षका मेघ था। धूम, ज्योति, सलिल और मरुतका बना, फिर भी वह नहीं, और फिर भी मेघ-सा ही अन्यका हरकारा है, अन्यका द्रव मानस वहन करनेवाला।

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।।

कहाँ तो धुएँ, ताप, जल और भापका संघात मेघ और कहाँ चतुर दूतसे भेजा जाने योग्य सुकुमार सन्देश ! परन्तु प्राणोंमें पलने वाले प्रणयकी आगसे दहकते यक्षने उसी मेघसे याचना की ! कामार्त, चेतन और अचेतनका भेद भला क्या जाने ! हवामें उड़ जाने वाला काग़ज़, कोरा निष्प्राण काग़ज़ हियेकी बात अपने विस्तारपर लेता है और निष्पक्ष डाकियेके थैलेमें पड़ देश-देशको उड़ जाता है, और पूछो पाने वालेसे असर उसका, उस 'कोरे कागद'का जिसकी महत्ता ढाई अक्षरोंसे लिखी है और जिसकी व्यापकतामें सागरका विस्तार छोटा है, पर्वतकी ऊँचाई छोटी है !

कालिदासका यक्ष पहला प्रणयी न था और न मेघ हियेमें

संचित कोमल प्राणोंके सन्देशका पहला वाहक ही था। बहुत पहले अपने अनवगुंठित प्रणयकी मारसे जर्जर ऋग्वेदका कवि स्यावाश्व राजा रथवीतिकी कन्याके प्रति अनुरक्त हुआ और राजाने रानीके भयसे उसकी याचना अस्वीकृत कर दी। तब कविने अमा और पूर्णिमाकी रजनीके सामने घुटने टेक याचना की—रजनी, जाओ, रथवीतिके महलों जाओ। दिवस और रात्रिकी सन्धिपर महामना राजा अग्निमें हवि डालता होगा, तब उसके लिए कुछ भी अदेय न होगा। कहना उससे—राजन्, जैसे प्रातर् सान्ध्य गगनके नीचे अग्निमें हवि डालते हो वैसे ही अकिंचन स्यावाश्व तुम्हारी अलभ्य कन्याके प्रणयांकुरपर अपनी कामनाका रस नित्य ढालता है। और जिस प्रकार तुम्हारी हवि-मांगल्यसे अग्निकी ज्वाला लाल हो गगनमें तड़प उठती है उसी प्रकार मेरे रसके प्रभावसे अंकुर भी नित्य प्रति बढ़ता है। चेतो न तनिक तुम, जानो न उद्वेग तनिक, कामना जानो अपनी कन्याकी, और बना दो कल्याणी जाया उसे अकिंचन स्यावाश्वकी—और, रजनी, सवेग लौट तपे धूपकी टूटती छायामें फिर अपनी पलकें झुका मुझे बताना कि अकिंचन, तुम्हारा ललित सम्पन्न कर आई!

डाकिया उसी रजनीका पूर्ववर्ती है। गणिकाके सेवकको उसके परिचितोंको जानने-बूझनेका जैसे चाव नहीं होता, डाकिया भी वैसे ही अपने भारसे उदासीन होता है। पर उस कोमलांगीसे पूछो जो बिसूरती यादोंके बीच बरसती आँखोंकी पलकें उसकी राह बिछाये उसके पैरोंकी चापके लिए कान खोले आसरा लगाये देहलीमें खड़ी रहती है। देहलीमें बलिके बिखरे फूलोंकी गिनती

करती साधें कितनी उमड़ पड़ती थी जब उमड़ते मेघ धराको अपनी आर्द्र छायासे ढक लेते थे। डाकियाका सूखा पर निराला तन कुछ लिये आता है, उसके पैरोंमें मरुतोंका मेघ है पर अन्तर उसका उतना ही सूखा है जितना डाकका वह डब्बा जो जड़ धातुकी चद्दरों से बना है और जिसका अन्तर अन्धकारसे भरा है, पर जिसके उसी अन्धकारपूर्ण अन्तरमें जलती आगके कितने शोले लपकते हैं, डब्बा वह स्वयं नहीं जानता। वह नहीं जानता कि वह उन्हीं जड़ महामानोंकी परम्परामें है जिनमें जीवधारियोंको प्राण देने वाले सूर्य, वायु और जल हैं।

और यह डाकिया आता है नित्य नियमसे, नित्य समयपर, कभी-कभी अलसाया-सा, क्षणभर बरामदेमें खड़ा होता है, खास ढंगसे अपने धूलभरे लोहेकी नाल लगे जूते बजाता है, और मंटों आसरा लगाये राह तकती असूर्यम्पश्या पट खोल देती है, और जब पत्रकी पीठपर पहचाने अक्षर आँखोंकी राह हियेमें उतर चलते हैं तब उपकृत कृतज्ञ दृष्टि उठती है, डाकियेपर पड़ती है, रोम-रोमसे आशीर्वाद फूट पड़ता है, पर डाकियेको छू नहीं पाता। डाकिया थके पैरों दूसरोंको उल्लास बाँटने अब तक मोड़के पीछे ओझल हो चुका है।

वह वीतराग डाकिया अपने थैलेमें क्रोध, ईर्ष्या, अनुनय, आशा, आनन्द भरे सबके प्रति उदासीन, आता है, चला जाता है। उसके सामने चेहरोंकी अनन्तर परम्परा है, चेहरे जो उसे डरसे देखते हैं, घृणासे देखते हैं, क्षोभ और तिरस्कारसे देखते हैं, प्यार और सुखसे, तुष्टि और अभितृप्तिसे। प्रोषितपतिकाके भवन-

पर उचरने वाले कागासे उसकी महत्ता कुछ कम नहीं, पर किसने उसका हित माना, उसका हित किया ?

उसका संसार कंगाल है, चार-छः बच्चोंका, उनकी अभावग्रस्त ममताकी मूर्ति माँका, जिसके लिए उस नित्य सैकड़ों पत्र ढोनेवाले थैलेमें एक भी पत्र नहीं, न हर्षका न विषादका। डाकिया ममता-के अनन्त डोरे लिये संसारके एक कोनेसे दूसरे कोने तक फिरा करता है, प्रेम-प्रणयके रक्षा-कवच बाँधता, पर अपनी ममताके लिए उसे सड़ा धागा नहीं !

यक्षका मेघ, दमयन्तीका हंस, प्यारकी पातीका सहारा, दर्द-का ढाल, तड़पते दिलका क़ासिद वह डाकिया हियेकी योजनामें कहीं नहीं है, उसका भोग उसका तप है ! किस स्यावाश्वने, किस पुरुमिलहने, किस ससीयसीने अपने प्रणयकी परिणतिपर, इष्टकी सिद्धिपर उसे साधु वचन कहे ? इतनी अधिकारहीन, अर्थहीन, अचिन्त्य सेवा संसारमें किसी दूसरेकी न हुई।

एक दिन एक बेला अगर डाकिया अपनी राह भूल जाय तो घरोंमें उथल-पुथल मच जाय। उसके हाथसे यदि एक पत्र गुम हो जाय, एक बदल जाय तो कितनी ममताएँ निराधार न हो जायँ, कितना सौजन्य कोपमें न बदल जाय ?

पर वह अपनी राह न भूलेगा, एक दिन भी नहीं। धूप हो या मेह, आँधी हो या तूफ़ान, उसकी राह कभी नहीं भूलती। वह सदा थका दिखनेवाला थकता नहीं, प्राणियोंका प्रतिबोध, आशाओं-

का मंगल वह डाकिया अपने नित्य नैमित्तिक पथपर सदा चलता रहता है, कभी विपर्स्थित नहीं होता—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव ।

• • •

सम्भवामि युगे युगे

फैला हुआ आसमान, फैली हुई ज़मीन, और दोनोंके बीच घुमड़ते हुए बादल, सुबह-शामका घना कुहासा, दिन-रातका बरसता मेह !

धरतीके ऊपर दूर तक फैला समुन्दर, दूर तक फैले आदिम जंगल समुन्दरके किनारे धूपमें उलटते घड़ियाल, गरमाते कछुए, उछलते मेंढक। जंगलमें चहकते पक्षी, दहाड़ते शेर, फुंकारते अजगर। खुले मैदानोंमें छलांग भरते चीतल, आकाशचुम्बी मस्तक मरोड़ते दीनेसूरे, डंक मारते चूहोंके बराबर बिच्छू, मौतसे लथपथ ज़िन्दगी !

और मैंने अंगड़ाई ली, क्योंकि भरे आलममें बस मैं ही नहीं था। तलवारकी धारोंवाले दाढ़ोंसे भरे शेरोंके बीच, खंजरोंसे दाँत-वाले चीतोंके बीच मैंने जो अंगड़ाई ली तो शेर भी लपके, चीते भी, और मैंने उचककर पासकी डालीपर जो कलाबाज़ी ली तो पेड़-की फुनगियोंमें जा छुपा, शेर और चीतोंकी बेबसीपर व्यंग हँसता, अपने गढ़की दुर्गमतापर इतराता।

मैंने ज़हरमें अमृत घोला, नीलकंठ बना, साँपोंके गहने धारे, खप्पर और शूल लिये, हाथीकी खालसे तन ढँका, डमरू बजा कालको चित्तकर उसकी छातीपर नाचा, मौतसे लथपथ ज़िन्दगीका तांडव शुरू हुआ—आदि मानव था मैं, संकटोंके झूलेमें झूलने-

वाला, मौतके फनको चूमनेवाला, प्रतिबंधोंसे निबंध, कायदोंसे आज़ाद, ज़िन्दगीकी गिरहमें उलझा, मगर उसके निर्मम फन्दोंसे आज़ाद।

और मैंने उस चराचरको देखा जिसमें रकतके फुहारे छूटते थे, जहाँ हवामें कोलाहल और आर्तनाद भरे थे, जहाँ दर्दकी चीख़-पुकारको जीतकी हुंकारें दबा देती थीं। उस फैले चराचरको मैंने देखा और जाना कि मेधाकी शक्तिसे सँवारा अकेला मैं हूँ, उस फैले चराचरका स्वामी, उस गुनहगार दुनियाका अकेला अंकुश मैं।

और तभी मैं एक दिन अपनी सखीके साथ जो गमकते चमनमें घुसा तो रंग-बिरंगे फूलों, सुस्वादु फलोंको देख हैरतमें आ गया। रंग-बिरंगे फूल हमने सूँघे, ज़ायकेदार फल हमने चखे, और तब हमारी नज़र उस ऊँचे पेड़की ओर गई जिसका तना काँटोंसे ढका था, फ़रिश्ते जिसकी रखवाली करते थे। हमारी उठती नज़रोंमें बेअन्दाज़ चमक फेंक उन्हें वे अन्धी कर देते और हम दूसरे पेड़ोंकी ओर मुड़ जाते, दूसरे फूलोंकी ओर, दूसरे फलोंकी ओर। पर दिलमें बैठा शैतान भरे पेटके बावजूद हमें मनकी एकाकीमें छेड़ता, और हम कहते कि दुनियाकी सारी नियामतें चमनके पेड़ोंमें फली हैं, आलमका एक-एक राज़ मुहइया है, हथेलियोंमें समाया हुआ, फिर उस पेड़में क्या है जिसके फलकी तू ख़्वाहिश करता है, जिसे चखनेको तू बेचैन है? और दिलमें बैठा प्यारा शैतान कहता कि लानत भेज आलमके खुले राज़पर, दुनियाकी मुहइया नियामतोंपर! अरे आदम है तू कि

मुश्किलोंको सर करने वाला, कि आते हुए ज़मानेमें आसमानसे तारे तोड़ लाने वाला, कि कोई राज़ तो दुनियाका अनबूझे न छोड़ेगा, कि तू फ़रिश्तोंके चकाचौंध पैदा कर देनेवाली चमकसे घबराता है, कि तू काँटोंको लांघ उस पेड़की चोटीको क्यों नहीं छू लेता, कि उसके पत्तोंमें छुपे उस अमर फलको क्यों नहीं छू लेता, कि नेक और बद, मुनासिब-नामुनासिब, विवेक-अविवेकका भेद तुमपर खुल जाय, कि तू ज़िन्दगी और ज़ीस्त और अमृत खोजता उसका विरसा अपनी आने वाली औलादको अनन्त तक सौंपता चला जाय ?

और मैंने वह अमर फल पा लिया, अमर फल खा लिया, और मेरी आँखें जो बस अभी आधी खुला करती थीं, पूरी खुल गईं। मैंने अपने चारों ओर देखा, मौतसे लथपथ आफ़तज़दा जंगलसे दूर इस अदनके बाग़में जहाँ सब कुछ मुहइया था, ज़िन्दगी मौतसे बेख़बर थी, जहाँ ज़ीस्त कवँल और गुलाबके झूलों-में पेंग मारती थी। और मैंने अपनी सखीको देखा जो ख़ूबसूरत नन्हे हाथोंसे सिमेटे तनकी बेहूदगियाँ छिपाये हुए थी। अपने ऊपर नज़र डाली, अपने नंगपनको पहली बार खुली आँखों देखा— जाना कि बेरुतबा आदम हूँ, बेलिबास नंगा, दहाड़ते शेरोंमें से एक, उलटते घड़ियालोंमेंसे एक !

पर अब भी यह जाना कि मैं उनसे भिन्न था, कि मैंने अमर फल खा लिया था, कि मैं अब अपनी सखीके नंगपनसे बेक़ायदा टकरा न सकता था। फिर मैंने पेड़ोंके तनोंके पीछेसे उसे निहारा, अघाया, और सकुचाती सखीने भारी पलकोंके आलमके सायेसे

जो नज़र फेंकी तो लगा कि किसीने जुहीका फूल फेंक दिया हो और भौंरोंकी कतार उसका पीछा कर रही हो ! मैंने फूलोंकी सेज बनाई और पुलकित गात धीरे-धीरे तनोंके पीछे छिपी सकुचाती प्रियाकी ओर बढ़ा । और बाद हम दोनोंने अपने तन ढक लिये थे ।

जीवन सादा था, पर जीवन सदा मुझे नेक न भाया । अपने भीतर जो कभी न मिटने वाले बैठे शैतानकी भूख थी उसका पल्ला जितना ही प्यारा था उतना ही हिम्मत बढ़ाने वाला था और उसने बार-बार मुझे कुछ ढूँढ़नेको मजबूर किया । सूरज जब पश्चिमकी पहाड़ियोंके पीछे डूब जाता, जब रात दुनियापर अपनी स्याह चादर डालती पग-पग सरकती आती, तारा-तारा गहरी होने लगती, तब लगता कि अकेला हूँ, सखीके बावजूद अकेला, जंगली अनन्त फलोंके बीच भूखा, और तब तारोंकी धुँधली चमकके पीछे चाँदकी याद आती, उस सूरजकी जिसकी कांखमें किरनोंका ख़ज़ाना छिपा था ।

और एक दिन मैंने तय किया कि मैं सूरजकी कोखसे किरनोंका वह ख़ज़ाना लूट लाऊँगा, कि एक दिन प्रकृतिका मैं सिंगार करूँगा, कि प्रकृतिके अँधेरेको एक दिन अपने बनाये चिरागसे दूर कर दूँगा । और तब यहाँ संपाती बना, वहाँ निर्बन्ध प्रोमेथियस, और जा पहुँचा सूरजकी लपटोंके बीच और मेरे पंख झुलस गये और काया बेअन्दाज़ ज़मीनपर गिर चली, पर किरनोंका ख़ज़ाना मैंने हाथोंसे गिरने न दिया । धरतीपर मैंने

प्रकाश उतारा, रातके अँधेरेपर मैंने दिया जलाया, और घरके चूल्हेमें आग रक्खी।

हाँ, अब मेरे घर था, और मेरी ही तरहके दूसरे अनेक घर थे, घरोंके समूह, गाँव, जिनके आपसी टकराते झगड़ोंसे संग्रामोंका उदय हुआ और मेरी हस्ती बढ़ चली।

हस्तीकी अपनी कहानी है, दर्द और चीख़ भरी, दोस्त और दुश्मन बनाने वाली, ज़िन्दगीपर सियापा डालने वाली। वह हस्ती मेरे हाथों आई और गाँवकी बस्तियोंमें उसने अपनी जो ऊँचाइयाँ पाईं उनके तेवरोंसे वह ख़ुद तिलमिला उठी। पर हस्ती अपने आपमें कुछ नहीं, टकरा कर ही वह अपना धार पाती है, अपना जुझाऊ पैनापन तेज़ करती है। हस्तीके विकासके लिए दूसरी हस्ती चाहिए, जैसे घने दुराचारके लिए सदाचार, जैसे बेअदबीके लिए अदब, जैसे भीषण पापके लिए डहकता पुण्य।

जहाँ प्यारसे पुलकती मैंने ज़िन्दगी देखी थी, जहाँ पात-पात, अँखुए-अँखुए, पोर-पोर फूटती पौधोंसे लदी भूमि देखी थी, वहीं दर्दसे चीत्कारती आवाज़ भी सुनी थी, उस आवाज़के पीछे भीमकाय चोट करती हस्ती भी देखी थी, जो मेरे जैसे मानवकी ही हस्ती थी, गुमराह इन्सानकी हस्ती, जिसको मिटा देना इन्सानियतका बुनियादी तक़ाज़ा है। सो मेरे जैसे इन्सानको अब नरसिंह बनना था, इन्सानियतकी कायामें यम-नियम-दंडके आदेश पालना था।

कहते हैं, कभी डूबते हुए ज़िन्दगीके मस्तूलोंको मछलीने अपनी नासाकी ऊँचाईसे उबारा था, कभी जलमें समाई पिरथीकी बराहने अपने थूथनसे रक्षा की थी, अब मैं ख़ूनसे सिंची ज़मीनपर

आदमीकी रक्षा नरसिंह बनकर अपने तीखे दाढ़ोंसे, पैने नाख़ूनोंसे करने लगा। वस्तुतः मेरे पास न तीखे दाढ़ थे न पैने नाख़ून, पर उस बनैली दुनियाके अस्त्रोंसे ही जो मैंने उसे जीता और जीतकर क़ुदरतके संहारी तीखे तीर उसके तरकशमें लौटा दिये तो उचित ही मेरा नाम नरहरि पड़ा, जिसकी चोटका दर्द उसकी इन्सानी रहमतसे कहीं थोड़ा था, बेअन्दाज़ छोटा।

जिस्मी ताक़त कभी बनैले जीवनमें जीते रहनेके लिए ज़रूरी रही थी, पर जब शेर, सुअर और साँपको सर कर आदमकी औलादने उनकी ताक़त, ज़िद और कोप स्वायत्त कर लिये थे तब अब उसे पुराने हरबोंको फेंक नये अख़्तियार करने थे। उसने अपने नये हरबे माँजे और तब महान् और मुश्किलको उसने जतनसे जीता, सख़ुनसे, और तब दुनियाने जाना कि आसमान चाहे जितना भी अनन्त हो, पिरथी चाहे जितनी भी दूर तक फैली हुई हो, पाताल चाहे जितना भी अनजाना-अनदेखा हो और मानव चाहे जितना भी छोटा, चाहे जितना भी वामन हो, बौना, अपनी दिमाग़ी क़ुव्वतसे अनन्त आसमानको, फैली पिरथीको अनजाने-अनदेखे पातालको लाँघ कर ही रहेगा, उसकी त्रिविक्रमता उनपर अपने तीन डग भर कर ही रहेगी। सो तब बौना होकर भी मैंने त्रिविक्रमसे आसमान और ज़मीनको जीता। वह जीत तब निरस्त्र मेधाकी थी, अस्त्रोंकी परम्परापर। पहली बार धरापर अकिंचन शक्तिमान् हुआ, अहिंसा हिंसकपर हँसी।

अब मैं इन्सान था, समुन्दर तरनेवाले मच्छसे दूर, जल-थलमें रपटनेवाले धराको धारण करनेवाले कच्छसे दूर, बनोंके

प्राङ्गणमें लाल पंजों और दाढ़ोंसे रकत टपकानेवाले नरहरिकी नीमइन्सानी-नीमहैवानी दुनियासे दूर, अपनी ज़मीनपर खड़ा सभ्यताका मानव अमृतका घूँट पी अब अमर हो चुका था, जो अदब और आदाब, आचार और प्रतिबन्धोंका अब धनी था, विधिनिषेधोंका पूजक, कल्पना और औदार्यकी छायामें पलनेवाला नीतिमान औचित्यकी ऊँचाइयोंको आँकनेवाला स्वयं अपनी ही बनाई बुलन्दियोंपर खड़ा मतिमान मानव।

हस्ती जो बढ़ी तो बढ़ती गई और जहाँ एक ज़माने तक मन्त्रोंकी ताक़त शस्त्रोंकी चमकपर हावी रही थी, वहीं मिस्र, सुमेर, भारत और चीनकी ज़मीनपर पुरोहितोंके पाशको तोड़ राजन्य पर्वताकार खड़ा हुआ। क्षत्रियने धराको अपने अंगूठेसे दबाकर उसे गहराई तक शेषनागके फनों और कछुएकी रीढ़ तक डगमगा दिया, उसे ख़ूनसे सींचा, जनताकी आज़ादीको कुचलकर उसने अपने अश्वमेधोंके वैभव खड़े किये, अपने चक्रवर्तीके रथके पहियोंको अप्रतिरथ चला सार्वभौमका विरुद धारण किया। दम्भ और अहं-कारका उसने धरापर साका चलाया और हस्ती बेबुनियाद ओरसे छोर तक औचित्यकी अवमानना करती चली गई। और तब परशुराम जागा, उसी राजन्य-क्षत्रियकी कोखसे जनी रेणुकाकी कोखसे स्वयं जन्मा ब्राह्मण पिता जमदग्निका परशुधारी राम।

और अब परशुधारी राम परशुको ही निगल चला, इक्कीस बार उसने अहंकार और दम्भसे धराको भोगनेवाली, उसको अपने पौरुषसे ही राजन्वती संज्ञा देनेवाली संहारक हस्तीको नष्ट कर

डाला। यह हस्तीको निगल जानेवाली हस्तीका ही निरूपण था। ताक़तको, हिंसाकी परम्परामें, ताक़त ही निस्तेज करती है, निगल जाती है। जैसे बड़ी पूँजी छोटी पूँजीको, जैसे पूँजी स्वयं पूँजीको! और हस्तीको हस्ती निगल गई और मैंने परशुराम बना सत्यके निजी मातृत्वसे 'सम्भव' अपने कुठारसे अपने आंशिक निजत्वको कुचल चला। काश कि औचित्यके निर्वाहकी तब एक सीमा बँध गई होती! काश कि रक्त टपकते उस कुठारको कार्यानन्तर मैंने दूर फेंक दिया होता!

निर्मम असंसारीको संसारकी सांसारिकता नहीं व्यापती। वह नहीं जान पाता कि प्यार क्रोधके नीचे भी पलता है। नहीं जान पाया मैंने कि जो दुनियावी राग-मोहसे मुक्त हो चुका है, उसकी चोट दुनियापर एकतरफ़ा पड़ेगी और जो अपने संहारमें उस व्यापक निर्माणको भूल जायगा जिसकी छायामें ही इन्सानकी दुनिया खड़ी होती है। मैंने अति कर दी और अति सर्वत्र वर्जित है। सो अब मेरा भी प्रकृतिका निमित्त बना रहना उसे गवारा न हुआ और उसने मेरे विरुद्ध अपने उस अस्त्रको फेंका जो इतिहास में रामके नामसे विख्यात हुआ। मैंने अपना कुठार उसी रामको सौंप दिया जिसने मेरे देवता पिनाकीका धनुष खिलवाड़में तोड़ दिया था। और शक्तिमें ही उसके विनाशके बीज निहित होते हैं। अपने ऐश्वर्यको अपने ही उठाये धुएँके बादलोंमें समाता देख मैं रामकी उठती हुई आग्नेय ज्वालाके सामने अन्तर्हित हो गया। फिर ऊर्ज-स्वित शिराओंकी काया लिये रामने शक्तिका पुञ्ज वक्षपर धारण किया। पिछला युग संहारका रहा था, अगला रक्षाका, पर चूँकि

रक्षा संहारसे आंशिक संहार द्वारा ही संपन्न होती है, रामको भी संहारका आंशिक अंचल पकड़ना पड़ा।

गृहस्थोंके गार्हस्थ्यपर, निराश्रितोंके वन्य वाणप्रस्थपर अत्याचार कर, उन्हें रुलाकर ही रावणने अपनी संज्ञा प्राप्त की थी, सो मैंने रामके रूपमें तब अपने तीरोंमें अनन्त शक्ति भरी, सात तालोंको एकसे बेध सुग्रीवकी रक्षा की, और समुन्दर लाँघ, सोनेकी लंका जला, सतवन्ती नारीकी लाज रक्खी। सीताका संरक्षण वस्तुतः नारीके नारीत्वका उतना संरक्षण न था जितना सामाजिक आततायियोंके पंजेसे समाजकी इकाई गार्हस्थ्यके मेरुदण्डका संरक्षण था।

परुषता और तप तब मेरी कायाके मूलाधार थे, निःसंदेह नीरस उनकी साधना थी, आनन्द कर्मठताकी संज्ञा था, रसका उसमें संचय न था। सो अब मैंने सच्चिदानन्दकी अपनी ही काया कोरी और कृष्णकी कमनीयतासे ब्रजके जगको हुलसाया। रामका कार्यकलाप पुरुषोत्तमका आदर्श रहा था, अशरफुलमख़लूक़ातका संकल्प, जनसाधारणकी सहज चेतनासे दूर, कठिन, उसकी शक्तिसे परेका। सो मैंने कृष्णमें जो अपना नया स्वरूप पाया वह क्रियाशील दोषी, पापीका था जो गुनाहोंका घर है। निःसंदेह साँवलिया रूपमें मैं चोर था, रसिया था, संक्षेपमें वह सब कुछ था जो साधारण इन्सान होता है। मेरी आँखोंमें तपका जीवन अब चकाचौंध नहीं भरता था, रामकी ज़िन्दगी जीना अब आसमानके सितारे तोड़ना न था, मेरे गुन-दुर्गुन आदमियतकी कमज़ोरी थे, मेरा आकर्षण मनुजकी पहुँचके भीतर था और मैं समाजकी इकाईका गुनहगार इन्सान अपनी हज़ार कमज़ोरियोंके साथ ज़मीनपर उतरा। और इन्सान जो

अब अपनी तनहाईमें अपने गुनाहोंको विचारता तो मुझे अपने पास पाता और जानता कि छलकता रस लबोंसे बहुत दूर नहीं है, कि आहार और विहारकी संतुलित मात्रा ज़िन्दगीको नमक देती है। पर बात यह भी थी कि जो तप और त्यागको संबल बनाता है वही सोलह हज़ार गोपियोंका कन्हैया भी बन सकता है, निश्चय वही जो ख़ाली हाथों कुरुक्षेत्र जीत सकता है। तब महाभारतके कोलाहल, धनुषोंकी टंकारों, परशुओंकी खपाखप, गदाकी चोटोंके ऊपर मेरा निर्बाक् रथ-चालन अट्टहास कर चला। कार्यके साधनेमें मैंने परिणामको प्रधानता दी और उसके लिए कोई साधन मैंने बेजा न समझा। शिशुपालका वध शायद आलोचकोंकी दृष्टिमें मेरे चरित्र पर कलंक-सा लगे पर यह संभव न था कि देवत्वकी साधना करनेवाला मैं सैद्धान्तिक प्रतिकार केवल शब्दों द्वारा करूँ जब सुदर्शन-सा चक्र मेरी उँगलियोंका सहायक था। निःसंदेह मेरी अहिंसाकी प्रतिज्ञा कुरुक्षेत्र तक ही सीमित थी। जरासन्ध, जिसके मारे मुझे ब्रज और अलबेली गोपियोंको छोड़ना पड़ा था, का वध भी मैंने निरस्त्र ही कराया था, पर उसमें भी साधक मेरी निर्गम मेधा ही थी।

फिर मैं हस्तिनापुरके मिट जानेपर, पूरबकी ओर चला, कौशाम्बी, काशी, मगध, विदेहकी ओर जहाँ मैंने पहले प्रवहण जैबालि, अजातशत्रु और जनक विदेहमें अपनी साँस डाली, जिनके दरबारोंमें आरुणि और श्वेतकेतु, दृप्त बालाकि और पार्श्व, याज्ञवल्क्य और गार्गीने दार्शनिक प्रश्नोंको सुलझाया, फिर मैंने उदयन, महावीर और बुद्धकी संज्ञासे विलास, तप और दोनोंके बीचकी मध्यम प्रतिपदा द्वारा सत्यका सोनेका मुँह अपने हाथों खोला।

बुद्धकी उस बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय जीनेवाली कायामें तब मैं मूर्तिमान हुआ और मैंने ब्राह्मणोंकी वर्णव्यवस्था और देव-वाणी संस्कृतसे उदासीन हो मानवमें मानवको खोजा, उसके-आभिजात्यमें नहीं, यद्यपि अभिजात मैं स्वयं था। पहली बार गुरु-का जो कण्ठ फूटा तो जनवाणी सुन पड़ी और मानवीयताने अपने उल्लास-भरे नूतन डग भरे। ब्रह्मवादिनियोंने कभी उपनिषदोंको अपनी गिराका योग दिया था, उदासीन होते हुए भी मैंने भिक्षु-णियोंके संघको संगठित किया। पहली बार सही अर्थमें नारीको प्रव्रज्याका तब अधिकार मिला।

अहंकार और दम्भका, क्षत्रियोंके संक्रामक पराक्रमका मैंने फिर शूद्रके संयोगसे पराभव किया जब मगधकी गद्दीपर मैं महा-पद्मनन्द बनकर बैठा और अपने तेजकी आँचसे ग्रीकोंको व्यास नदसे उल्टे लौटनेको मजबूर किया। मतिमान चाणक्य मैं उन्हीं दिनों तक्षशिलाके पास मेरी आत्मा जगी और ब्राह्मणने कर्मठ क्षत्रियको अपनी जागरूक चेतनाकी छायामें खड़ा किया। बुद्धका अंश मैंने फिर मौर्योंके सम्राट् अशोकमें भरा जिसने बैरका उत्तर मित्रतासे दिया और तलवार और आग भेजने वाले ग्रीकोंके राजमें दवाएँ बटवायीं। और जब क्षत्रियोंका मद फिर एक बार अपनी सीमाओंको पार कर गया तब मैंने मगधमें पुरोहित पुष्यमित्रका रूप धारण किया, मौर्योंका अन्त कर डाला और भारतमें उत्तरसे दक्षिण तक ब्राह्मणोंकी राजसत्ता स्थापित की, सिन्धुसे सिन्धु तक, सागरसे सागर तक। मुझे पौराणिकोंने अब कल्किका अवतार कहा।

बुद्धगत अपने तेजको मैंने निस्तेज कर दिया जब अर्हतकी

स्वार्थ एकदेशीय निर्वाण-परम्पराको मैंने हीनयान कहा और बोधिसत्त्वकी अपनी महायानी परम्परा प्रतिष्ठित की। विदेशी शकों और कुषाणोंके दलके दल इस देशमें चले आ आ रहे थे जिनको मैंने ब्राह्मण भारशिव विश्वास और क्षत्रिय नाग कर्मठता तथा गुप्त राष्ट्रीयता द्वारा मार भगाया और देशमें मनुकी व्यवस्था फिरसे क़ायम की। स्मार्त जीवनका संयम आहार-विहार फिर भारतमें फला और ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरेसे लड़ते भी परस्पर एक दूसरेका अर्थ साधने लगे—'क्षात्रं द्विजत्वं च परस्परार्थम्' का संकल्प प्रतिष्ठित हुआ। यह गुप्तोंका सुनहरा युग था जब मैंने कलावंतोंकी तूलिकामें बसकर, कालिदासकी लेखनीमें बसकर, कला और साहित्यका समवेत सृजन किया।

साहित्य और कलाका मनोयोग अक्सर कृपाणको कोनेमें टिका देता है, सो ही हुआ, और गुप्तोंके साम्राज्यपर हूण गिद्ध बनकर टूटे जिससे स्मार्त जीवनका अन्त हो गया। वैसे भी स्मार्त जीवनको तभीसे घुन लगता जा रहा था जब महायानका विकास मन्त्रयानमें हुआ था, जब मन्त्रयानका विरसा वज्रयानने लिया था, जब वज्रयान और तान्त्रिक शाक्त पूजनकी सीमाएँ परस्पर मिल गई थीं और जब चौरासी सिद्धोंमें कुछ अछूत जातियोंके थे, कुछ टूटे हुए ब्राह्मण थे जिन्होंने कण्हपा और सरहपाकी आवाज़ें बुलन्द कीं, कहा कि जो आहार-विहारमें संयमके पोषक थे उनका धर्म ही हमारे लिए अधर्म होगा और उनका अधर्म ही हमारा धर्म होगा, हम इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर नहीं, भोगसे उनको जीर्ण कर अपनी सिद्धि साधेंगे। फिर तो सहजिया, मरमिया, कापालिक,

औघड़ आदि पन्थोंकी परम्परा दिन-दिन अवतरित होती गई और मेरा कार्य बड़ी तीव्रतासे चल पड़ा। सहस्राब्दियोंकी आती धारा सहसा बन्द हो गई। जमानेने करवट ली।

इस्लामकी चिनगारी जो मैंने मुहम्मद बनकर अरबमें भड़काई थी उसने विश्वबन्धुत्वका, अल्लाहो अकबरका एक नारा बुलन्द किया था, जैसे प्रेमका सन्देश सुनाने वाले नज़रथके ईसाके कलेवर-में मैं कभी पैठा था और मेरे नये संदेश भारतसे अलहमरा तक, चीनसे अदिसअबाबा तक फैल गये थे। फिर वेदान्त और सूफ़ी-वादके सत्य मैंने इलहाम किये। कबीर और नानक, जायसी और मीराके कंठमें तब मैं पैठा पर मेरी अभितृप्ति तुलसीकी लेखनीसे हुई जिसने अपने प्रबन्धमें स्मार्त जीवनके टूटे सूत आदर्श रूपमें एकत्र किये और वाल्मीकि तथा व्यासकी परम्परा 'मानस'में जी उठी।

गुलाम और पठान, ख़िलजी और तुग़लक़, सैयद और लोधी, सूर और मुग़ल आए और मैंने उनका पृथ्वीराज और सांगा, प्रताप और शिवाजी बनकर सामना किया और अन्तमें रजवाड़ोंको श्वेत फिरंगी व्यवसायी जातिने चकमे देकर हिन्दुस्तान हथिया लिया। अट्ठारह सौ सत्तावनके विद्रोहमें मेरी आत्माने एक बार उच्छ्वास लिया और फिरंगियोंकी जानपर आ बनी पर भारतीय जो राष्ट्रीय कर्मठतामें अभी कोरे थे अपने राष्ट्रकी बागडोर सम्हाल न सके और आई आज़ादी हाथ से निकल गई।

रामकृष्णकी काया फिर मुझे बहुत भाई और मैंने मतमतान्तरों-की विविधतापर कुठाराघात किया। फिर दयानन्द और केशव,

राममोहन और ईश्वरचन्द्र, देवेन्द्रनाथ और एनीबीसेन्टमें मेरी आत्मा बसी और मानवता अपनी विभिन्न धाराओंसे विकसित और क्रियाशील हुई।

संसारपर तभी एक नया राहु अपनी छाया डालता जा रहा था। पहले नीत्शे फिर बिस्मार्क, फिर कैसर, फिर हिटलर, और हिटलरने तो जैसे संसारको ही अपने उठाये तूफ़ानमें झोंक दिया। तब मैं रूसी स्तालीनकी आत्मामें लीन हुआ। मार्क्स-लेनिनकी राह स्तालीनने देखी थी। उसने हिटलरकी सार्वभौम सत्ताका अन्त कर दिया। एक जनवादी विरोधसे बिस्मार्क-कैसरका जर्मनी ध्वस्त हो गया था दूसरे जनवादी विरोधसे हिटलरका जर्मनी भी ध्वस्त हुआ और संसारकी जनताने शान्तिकी साँस ली।

गाँधीके भावतन्तु मैंने बड़ी साधसे सिरजे थे। उसने शत्रुमें मित्रको देखा और अहिंसासे हिंसाको मेटकर खोई हुई इन्सानियत की जड़ोंको धूप दिखाया, यद्यपि उसे भी अपने सत्य और प्रेमकी क़ीमत ईसाकी ही तरह जीवनसे चुकानी पड़ी।

आजकी ज़िन्दगी शंका और डरकी है, और शंका और डर जिस सुरक्षाकी योजना हिंसासे करनेका अध्यवसाय करते हैं वह सब कुछ हवामें है। जातियोंकी आज़ादी दीर्घकाल तक सकतेमें रही है और अभी-अभी उसने आज़ाद हवामें साँस ली है। कोशिश अब भी है कि वह फिर सकतेमें आजाय, पर मैं उनकी हर साँसमें बसा हूँ, मुमकिन नहीं कि आज़ादीका इज़हार उनके ख़ूनमें रवाँ न रहे। चीन और भारत उनके संतरी हैं, स्वपनके

पहरुये, और जवाहरका 'पंचशील' उनका पंचव्रत है, गाँधीके सत्य और अहिंसा उनका अभेद्य कवच।

और मैं अपनी नज़र ज़र्रे-ज़र्रेपर रवाँ रखता हूँ, जैसे युग-युगमें रखता आया हूँ। युग-युग मानवताके शत्रु, दम्भ और अहंकारके उपासक इन्सानियतका दलन करनेका प्रयत्न करते गये हैं, युग-युग मैंने जन्म लेकर उनका सामना किया है, मानवीय धर्मकी प्रतिष्ठा की है। साधुओंका परित्राण असाधुओंका नियन्त्रण किया है। मैं स्वयं मूर्तिमान मानवीयता हूँ, अजर और अमर हूँ, मानवीय दायकी अघट निधि लिये मानव शृंखलाकी कड़ी-कड़ीके सामने उपस्थित होता हूँ। आमीन्!

● ● ●

टूटे सूत

ब्रह्मवादिनी हूँ—गार्गी। महर्षिने कहा था कि जबतक गंगा और यमुनाकी धाराएँ बहती रहेंगी, जब तक सूरज, चाँद और तारोंकी ज्योति जगती रहेगी तब तक तुम्हारा ऐश्वर्य धरा-पर अक्षुण्ण बना रहेगा। आज उसके प्रायः पचास वर्ष बीत चुके है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी भौतिक देह त्याग चुके हैं। जीव उनका ब्रह्ममें लय हो चुका है, पर आज भी उनकी वह मधुमयी वाणी मेरे कानोंको तृप्त कर रही है। ऐसा नहीं कि उस महामनाके विचारोंसे मैं सदा सहमत ही रही हूँ, अभी उस दिन जनककी राजसभामें मेरी उनकी दो-दो चोटें हो गई थीं पर निष्ठा आज भी उनके चरणोंके नखोंसे प्रकाश पाती है, आज भी उनके वाक्य ब्रह्मकी व्याख्या करते-से दिशाओंको भर रहे है।

और आज उसके कोई पचास वर्ष बीत गये। और मैं सदा-नीराके पार हिमालयके इस निचले अंचलमें वनस्थलीकी इस कुसुम-चर्चित उपत्यकामें, शिष्य समुदायसे घिरी पड़ी हूँ। ब्रह्मकी ज्योति हियेमें जग रही है, सदा जगती रही है और इस अन्तकी बेला जगनी ही चाहिए, पर याद है कि आये जा रही है और पिछले अस्सी वर्षोंकी ब्रह्मके अनुसन्धानकी कहानी जैसे पन्ने-पन्ने खोलती आँखोंके सामनेसे सरकती जा रही है।

सदानीरा पार हूँ जिसे कभी आर्य-संस्कृतिके प्रकाशकी लौ

लिये, देवताओंके पुरोहित जातवेदस् अग्निकी शिखा लिये, महर्षि विदेघ माथव लाँघ गया था और यहाँ गंगाके इस उत्तरवर्ती प्रदेशमें मिथिला और विदेहोंकी भूमिपर उसने अहोरात्रका, गृहस्थके पंचयज्ञोंका प्रचार किया था। मैं स्वयं यहाँकी नहीं हूँ, पंचालोंके बीचकी हूँ, गङ्गा-यमुनाके बीचके द्वाबकी, और मैंने द्रुपदके देशकी धराको एक सिरेसे दूसरे सिर तक अपने पैरोंसे नापा है, अहिच्छत्रा और कांपिल्यकी पांचाल राजधानियोंके ब्रह्मवादियोंको चकित कर दिया है, पर वह कहानी भी आज पुरानी पड़ गई है, पांचालोंके वादविन्यास भी अब शिथिल पड़ चले हैं। शीघ्र कहानी बनकर वे ग्रन्थोंके पृष्ठोंमें जा बसेंगे और व्याख्याता उनपर दर्पसे अपनी टीका करेंगे, महर्षियोंके मुँहमें अनिर्वचनीय अपने वाक्य रक्खेंगे, आप्त-वाक्य प्रमाणमात्र रह जायगा।

पर उससे मुझे क्या? क्या रहा है जो रह सकेगा? क्या नहीं देखा जो आज नहीं है? क्या देख रही हूँ जो रह जायगा? फिर भी याद आये जा रही है, और याद आये जा रही है कि जो था वह अब नहीं है, कि जो अब है वह आगे नहीं रह पायगा। विश्वकी संसृति कौन नापता जा रहा है? कौन है जो उसके प्रजननका जनक है? कौन है जो जनन और गमन, जात और गतको सार्थक करता है, जगत्‌की संज्ञा चरितार्थ करता है? यह रूढ़ि बहुतोंने समझनी चाही। अंगिरा और शौनकसे आरुणि और याज्ञवल्क्य तक पर वह रूढ़ि गाँठ बनकर बँध गई और सो वह ऐसी गाँठ जिसे मनीषीसे मनीषी भी न खोल सके, जिसे उन्होंने अपनी गाँठपर गाँठ डाल सारे सूत और उलझा दिये।

सूत टूट चुके हैं पर गाँठ खुली नहीं। पर वे चिन्तनके सूत थे जिनको खोलने और सँभालनेका मतलब है उन्हें और भी उलझा देना, उलझाते जाना। अश्वपति कैकेयने, प्रवाहण जैबलिने, अजातशत्रु काश्यने, जनक विदेहने ब्रह्मकी विवेचना की, आत्माका निरूपण किया, कहा—ब्रह्म अज्ञेय है, न देखता है न देखा जाता है, न खाता है न खिलाता है, न सुनता है न कहता है, न करता है न किया जाता है, न मरता है न मारता है। अपने तत्त्वका बोध वह स्वयं है—सही, शायद ब्रह्म यह सब कुछ है, शायद यह कुछ भी नहीं है। फिर क्या है वह आखिर! आज भी उसे न जान सकी। एक स्वीकारात्मक प्रतिज्ञा दूसरे नकारात्मक सिद्धान्तको पूर्वरूप बना आगे सरक जाती है और चिन्तन उलझता जाता है। शायद उन्होंने भी न जाना कि ब्रह्म क्या है, कि अगर यह आभास आभासमात्र है, कि इसकी व्याख्या यदि प्रति-व्याख्याके उत्तरमें प्रश्नमात्र है तो क्या समूचा सिद्धान्त, समूचा निगमन, समूची व्याप्ति आभास मात्र नहीं है? कमसे कम मैं तो उस ब्रह्म-सत्यके दर्शनसे वंचित ही हूँ जिसके तात्त्विक विवेचनमें केकय और काम्पिल्यमें, काशी और मिथिलामें एकसे एक बड़े दंगल हुए, दंगल ऐसे कि वाणी वितानोंके नीचे फैलती, गम्भीरध्वनि रथोंकी ध्वनि दुर्बल करती, दिशाओं तक प्रसरती चली जाती, ध्वनि जो स्वयं अपना उपहास थी। लगता है, वह वाणी आज निरर्थक होकर सर्वथा मूक हो चुकी है और प्रश्न वहींका वहीं है, कि उस प्रश्नका उत्तर प्रश्नोपनिषद् भी न दे सका, न मुंडक न मांडूक्य और न उन अनन्त उपनि-

षद्दोंकी परम्परा उसका उत्तर दे सकी जिनका विस्तार निबिड़ अरण्यमें एकाकी निर्जनमें ब्राह्मणोंने किया था।

और याद आये जा रही है। दूर पच्छिमकी याद, कुरुओं-पाञ्चालोंके पच्छिमकी याद, मत्स्योंके उत्तर-पच्छिमकी याद, शौर-सेनोंके पच्छिमकी याद, और पच्छिमकी नितान्त पूर्वकालकी, खोये अतीतकी, जब मैं थी भी नहीं, सिन्धुनदकी, कुभा-क्रुमू-गोमतीकी जिनकी धाराएँ सदा सिन्धुके अख़रोटोंकी जड़ों और द्राक्षाकी लताओंको धोती हुई बहती चली आती थीं। वह निषध पर्वत आज भी खड़ा है, आज भी वह हिमालयकी भुजा बनकर पश्चिमोदधिमें समाये जा रहा है।

उसकी ऊँचाइयोंसे पूर्वजोंने कभी नीचेकी भूमिको प्रेम और लालचसे निहारा था, उस उर्वर-धराको उन्होंने उद्यान कहा था, और वहीं बसकर उनके इन्द्रप्रतर्दन-नचिकेताने, उनके शौनक-अंगिराने, उनके कक्षीवान्-स्वनय भाव्यने, श्यावाश्व-पुरुमिल्हने गम्भीर गिरासे मेघों और नदोंके गर्जनको चुप कर दिया था।

पर वह तो पहलेकी बात है जैसे शची-पौलोमीकी भी बात। और जब शची पौलोमीकी बात याद करती हूँ, जब उसके और उसके स्वामी इन्द्र और इन्द्रके सखा वृषाकपिके बीचकी बातको सोचती हूँ तब अकेले भी लजा जाती हूँ। पर शायद वृषाकपि उस दम्पति-का अन्तरंग था, जभी तो इतनी गुह्य, इतनी गोप्य, इतनी मिथकी बात ज़बानपर लाई जा सकी। फिर भी इन्द्राणीके ओजकी मैं क़ायल हूँ क्योंकि वह नारी थी जिसने चाहे स्वामीके नाज़ो अन्दाज़को सिर आँखोंपर लिया पर सपत्नियोंकी संस्थाके विरुद्ध

अपनी दर्पिल घोषणा तो की जिसे आज भी हम सुन रहे हैं, जिसे आनेवाली प्रजा भी चिरकाल तक सुनती रहेगी, और जो बहते हुए झंझावातके ऊपर उठ जाती है, और जो पर्वतों और जलराशियोंको गुँजा देती है—

अहं केतुरहं मूर्द्धा अहं उग्राविवाचिनी ।

आज क्यों नहीं नारी 'उग्राविवाचिनी' होती? सही, आज मेरी जैसी अनेक ब्रह्मवादिनियाँ हैं, अनेक ऐसी हैं जो भौतिक ऐश्वर्यको लात मार देती हैं पर कितनी हैं जिन्होंने अपने मनीषी पतियोंको अपना अनौचित्य देखनेको मजबूर कर दिया हो? विदुषी मैत्रेयी निश्चय आनेवाली परम्पराओंको अपने त्यागसे वैसे ही चकित कर देगी जैसे कभी नचिकेताने इन्द्र द्वारा परि-गणित सांसारिक वैभवोंको एक-एककर तजकर चकित कर दिया था, अपने नकारात्मक त्यागसे जिसने 'नचिकेता' नाम पाया था। पर काश कि वह ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी अपने प्रव्रजित होते ज्ञानदिग्विजयी याज्ञवल्क्यको समझा पाती कि महर्षि, संकल्प तुम्हारा सुन्दर है, संन्यास तुम्हारा काम्य है, जैसे सालोंसाल काया तुम्हारी काम्य रही है, पर भला मुझे और कात्यायनी दोनोंको ब्याहकर भी परा और अपराकी खोज करनेवाले, ब्रह्मकी आधी शताब्दि तक व्याख्या करनेवाले, तुम्हारी जिह्वाको व्याघात क्यों न पहुँचा? क्यों तुमने दो-दोको ब्याहकर नारीकी एकाकी शालीनतापर कुठाराघात किया? क्यों निरन्तर वासनाके विरोधमें राजर्षियोंको दीक्षित करते हुए तुम्हें यह न सूझा कि तुम्हारे गार्ह-स्थ्यमें जो औदार्य है उसमें अव्यभिचारिणी नारी-निष्ठा प्रतिष्ठित न

हो पाई, एकपत्नीत्वका व्रत नहीं लिया जा सका, सो क्यों ? माना बड़ा ओज था उस महर्षिमें, बड़ी पूत थी वह कल्पना, बड़ी शालीनता थी उस माँगमें, जो मैत्रेयीने अपने प्रव्रजित होते पतिके प्रश्नके उत्तरमें उसके दानशील हाथोंमें अपनी संपत्ति देते हुए विसर्जनको रोककर कहा था—

"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहिति"—

जिससे मैं अमृतत्वका लाभ नहीं कर सकती उस धनधान्यसे, महर्षि, मुझे क्या करना है ? मुझे तो आप वह दो, उसका ज्ञान-विस्तार करो, उसकी व्याख्या करो जिसे, हे भगवन्, तुम जानते हो और जो इन पार्थिव ऐश्वर्योंसे परे है, जो अमृत है।

सही, बड़ी ओज है वाणीमें, पर उस गम्भीर अमृत-ध्वनिके बावजूद मेरी आँखें घूम जाती हैं उस ओर जिधर निरक्षर कात्यायनी बैठी है जिसने अपने महर्षि स्वामीका अमृतत्व न जाना, न माँगा, क्योंकि मनीषीको यह कभी न सूझी कि अक्षरहीन उस कात्यायनीको भी अलक्षित ज्ञानका वह सुख चाहिए जिसके तत्त्व तीन हैं—वह अश्वत्थ जिसपर दो सुपर्ण बैठते हैं जिनमेंसे एक तो उस पीपलका गोदा खाता है और दूसरा केवल उसके खानेको देखता रहता है।

हाँ, निश्चय प्राचीनकालकी, उन ऋचाओंकी याद आती है जिनको महर्षि व्यासने अपने शिष्योंके साथ संहिता रूपमें एकत्र किया था—उनमें काँप-काँपकर उठनेवाली मन्थर-से-मन्थर कानोंको चकित कर देनेवाली उनकी वह आवाज़ भी नहीं भूल पाती जो

वागम्भृणी की है—अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हंतवाउ। अहं जनाय समदं कृणोमि···। मैं ही रुद्रके धनुषको तानती हूँ, उसपर बाण चढ़ाती हूँ। उसपर बाणका सन्धान करती हूँ जिससे ब्रह्मद्वेषियोंको मार सकूँ, मैं ही जनोंमें मद भरती हूँ, मैं ही सेनाओंको रणक्षेत्रमें उतार लाती हूँ, और मैं ही बालरविको क्षितिजसे खींचकर आकाशकी मूर्द्धापर चढ़ा उसे प्रचण्ड आदित्य बनाती हूँ, मैं ही पृथ्वी और आकाशमें, मैं ही क्षितिज और दिशाओंमें व्याप्त हूँ।

किसने इतनी गम्भीर गिरा सुनी ? किसने इतनी गम्भीर गिराका इतना उदात्त निर्घोष किया ? पीछेकी शृंखलाओंकी नारी—सीता और द्रौपदी तक—शृंखलासे जकड़ती चली गई, यशव्याकुल पतियोंकी छायामात्र बनीं। न सुन पड़ी फिर वह शची-पौलोमीकी गिरा, न उस वाक् अंभृणीकी, और न अपाला, विश्ववारा, घोषाकी और उस कैकेयीका कर्मठ यश तो फिर धरासे उठ ही गया जिसने दशरथकी टूटी धुरीमें भागते रथोंके बीच अपनी भुजा डाल दी थी, और उसकी भी परम्परा मिट गई उस मुद्गलानीकी जिसने कटे स्वामीकी जांघको लोहेके पिण्डसे साधा था। पर वह तो कहानी ही रही है, मात्र कहानी और उन कहानियोंके ऊपर सूर्याका प्राजापत्य छाये जा रहा है और उस प्राजापत्यकी छायामें भी भला सिवा कात्यायनीके और रम ही कौन सकती है, चाहे वह छाया याज्ञवल्क्यकी हो या ठूँठ पुरुष की ?

ब्रह्मावर्त—ब्रह्मर्षिदेश—धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र, दृषद्वती और सरस्वतीके बीचकी भूमि जहाँ उत्पन्न होनेकी देवता भी सुखद कल्पना

करते हैं—पंजाबसे संलग्न वह मरुभूमि जो यज्ञकी पायससे गीली हो चुकी है और जिसकी हवामें वेदध्वनि आज भी गूँज रही है। ठीक केकयके दक्षिणवर्ती शतद्रुजनपदसे लगा-लगा वह प्रदेश जहाँ हिमालयके अञ्चलमें पसरती सतलज मैदानमें फैल जाती है—उसी भूमिकी बात कहती हूँ—जहाँ कभी कौरवों और पाण्डवोंने अपने शस्त्रोंकी परीक्षामें दोनों कुलोंको निर्मूल कर डाला था और जहाँ उस बान्धव-हत्यासे विमुख होकर बलरामने रेवती और मदिराको छोड़ सरस्वतीके तटपर आवास किया था। उस भूमिकी महिमा अमित है और अमित निष्ठा है मेरी उसके प्राणियोंमें यद्यपि यजनसे मैं बाल्यकालसे ही विमुख हो गई थी।

पर्वतके आँचलसे उठते हुए मेघ उठते और उठे चले आते, आकाशसे उलझे हुए झुकते और फिर समूचे आकाशपर छा जाते। घने मेघोंमें तड़पती बिजली कौंधती और जो धारासार वृष्टि होती वह उस प्राचीन जल-प्रलयकी याद दिलाती जो शतपथ ब्राह्मणमें मनुकी कहानी बन गई है। उसके एक ओर उन कैकेयोंका वैभव था जिनकी छायामें उपनिषद्का चिन्तन करनेवाले कठोंने अपने ब्रह्मतत्त्व गुने और स्वयं अश्वपति कैकेय जहाँ अभी हालतक दर्प और विश्वासके साथ ब्राह्मण ऋषियोंको 'समित्पाणि' करता रहा है। दूसरी ओर पाञ्चालोंकी परिषद् प्रवाहण जैवलिकी संरक्षामें गोप्य ब्रह्मरहस्यका उद्घाटन करती रही है जिसके अञ्चलके नीचे मैंने स्वयं कभी आँख खोली थी, जहाँ स्वयं मैंने अपने कैशोर, यौवन बिताये जबतक कि मुझे काशी और मिथिलाकी परम्पराने उद्दालक आरुणि और याज्ञवल्क्यकी वाक्-

शक्तिने मजबूर न कर दिया। पाञ्चाल परिषद्‌में मैंने श्वेतकेतुको राजा द्वारा अप्रतिभ होते देखा था, जैसे बादमें दृप्त बालाकिको अजातशत्रुसे काशीमें हतप्रभ होते देखा। परन्तु दृप्तबालाकिकी याद आते ही एक और सञ्चित याद गातको पुलकित कर देती है जो कुमारियोंके लिए आर्द्र कठिन अनुभूति प्रस्तुत करती है। वह बात जबाला की है जिसका बेटा जाबालि हुआ, सत्यकाम जाबालि, जिसके सत्यकी परीक्षा आचार्य कुलपतिने ली थी। बालक जब दीक्षित होने आचार्यके पास पहुँचा तब आचार्यने पूछा—कस्त्वं? "कौन है तू? ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, कौन है?" और बालक आँखें खोले चुपचाप आचार्यकी ओर देखता रह गया था। उस प्रश्नसे चकित जिसका उसके परिवारमें कोई अर्थ न था। आचार्यने कहा—जा अपनी माँसे पूछ—कौन है तेरा पिता? और बालक माँके पास चला आया था। कौन हूँ मैं, माँ? उसने पूछा था—कौन पिता है मेरा? मैं किस वर्णका हूँ? और माँ उसकी ओर वैसे ही ताकती रह गई थी जैसे वह आचार्यके सामने ताकता रह गया था। माँ बोली—नहीं जानती, वत्स, किस वर्णका तू है, कौन तेरा पिता है—तब महर्षि-पिताके आश्रममें अनेक अतिथि-ऋषि आया करते थे और मुझपर उनकी सेवाका भार था, सो नहीं जानती, वत्स, कौन है तेरा वह पिता, कौन वर्ण है तेरा। और माता चुप हो गई थी और बेटेने कुलपति आचार्यके सामने माँकी बातें दुहरा दी थीं और आचार्य कुलपतिके मुँहसे सहसा निकल पड़ा था—ब्राह्मण है तू, वत्स, ब्राह्मण है तू, वत्स, ब्राह्मण है। बिना छिपाये-छिपाये कठिन बचन बोलता है—

सत्यकाम है तू। आजसे तू सत्यकाम कहलाया। और तबसे उस बालकका नाम सत्यकाम जाबालि हो गया था जिसकी जरठ कायाने अभी हाल अन्तिम साँस ली है।

और वह अपनी बात भी नहीं भूल सकती जो आँखोंपर आज भी छाये हुए है और जो बात उतनी ही मेरी है जितनी उन आठों-नवों महर्षियोंकी है जो कभी राजा जनककी सभामें पधारे थे। जनकने महान् यज्ञ किया था और अपने आचार्योंके अतिरिक्त पञ्चालके अनेकानेक चिन्तक मुनियोंको भी बुला लिया था। हज़ार गौएँ अपने क़िलेके आँगनमें राजाने रोक लीं। उन हज़ार गायोंकी सींगोंको दस-दस पाद सोनेकी पत्तरोंसे ढकवा दिया था। कहा—जो आप सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हो इन हज़ार गायोंको इनकी दस-दस पाद गण्डित स्वर्णिम सींगोंके साथ हाँक ले जाय।

और तब याज्ञवल्क्यने अपने शिष्योंको गायोंको हाँक लेनेके लिए संकेत कर दिया था और शिष्योंने गाएँ हाँक ली थीं। और तब उपस्थित ब्राह्मणोंमें स्पर्धाकी भयानक आग भड़क उठी थी। सबमें महान् कौन है? यह प्रश्न कुछ ऐसा न था जो अछूता छोड़ दिया जाता और सबने अपने-अपनेको ब्रह्मिष्ठ सिद्ध करना चाहा। और चूँकि याज्ञवल्क्यने गौएँ हाँक ली थीं उनके प्रति ब्राह्मणोंके नथने क्रोधसे फड़फड़ा उठे थे। उपस्थित ऋषियोंने उनसे प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी थी। पहले होताश्वलने अपने प्रश्न पूछे फिर जो याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया तो होताश्वल हार मान चुप हो रहा, फिर जारत्कारव आर्त्तभाग उठा, फिर भुज्युलाह्यायनिने प्रश्न किये और तब उपस्तचाक्रायणने और तब कहोल कौषीतकेयने, फिर

स्वयं मैंने—गार्गी वाचक्नवीने, फिर उद्दालक आरुणिने, फिर मैंने और अन्तमें शाकल्यने प्रश्न पूछे। महर्षि याज्ञवल्क्य एकके बाद एकको उत्तर देते निरुत्तर करते गये और अन्तमें विजय उनकी हुई। मैंने भी दूसरी बार उनसे दो प्रश्न किये थे। कहा था—याज्ञवल्क्य, जैसे काशी और विदेहका उग्र युवा धनुर्विद्यामें निष्णात हो कर अपने कार्मुकपर अमोघ शरका सन्धान करता है वैसे ही मैं भी प्रश्नरूप दो बाण अपनी ज्यापर चढ़ाती हूँ, उत्तर देना। और महर्षिने तत्काल भाषा और ज्ञानका उद्‌बर्हण करते हुए दोनोंका उत्तर दे दिया था। मैं उत्तरसे सन्तुष्ट हुई थी या "सिरके गिर जानेकी" धमकीसे डर गई थी, आज नहीं कह सकती पर निःसन्देह चुप मैं हो गई थी और हार मैंने भी औरोंकी ही भाँति मान ली थी। स्वर्णमण्डित सींगों वाली हजार गौएँ याज्ञवल्क्यकी हुई और धरापर उनका यश छा गया। कितने सत्यका उन्होंने अवगाहन किया था, नहीं जानती, पर सही है कि तबकी हमारी भाषामें, तबके प्रतीकोंमें, वे उत्तर उचित ही जान पड़े थे।

अब वह युग धीरे-धीरे समाप्त हो चला है। सुकेशा और सत्यकामका, गार्ग्य और कौशल्यका, वैदर्भि और कबन्धीका, पिप्पलादका वह प्राचीन संसार कबका विस्मृत हो चला है। अजातशत्रु और इस बालाकि हमारे स्मृतिपटलोंसे शीघ्र मिट जायेंगे, वैसे ही सत्यकाम जाबालि भी, प्राचीन शील, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्नार्जुन और बुडिल भी, उद्दालक आरुणि और श्वेतकेतु भी, अश्वपति और जैबालि भी, शायद जनक और याज्ञवल्क्य भी।

परन्तु प्रसन्न केवल एक बातसे हूँ—कि विश्वासकी परम्परा पर प्रश्नकी शंका पुष्ट होती जा रही है और आशा है कि रूढीभूत अन्धकारके ऊपर धीरे-धीरे वास्तविक सत्यकी खोज विजयी होगी। राजन्य और ब्राह्मण, विदेह और संन्यस्त दोनोंसे प्रबल, दोनोंसे परेका सत्य अपने घटका वह सौम्य बदन खोल देगा जो स्वर्णसे आवृत है। यही मेरी आशा है, यही मेरी कहानी है, मुझ ब्रह्मवादिनी गार्गी वाचक्नवीकी। ● ● ●

ऊँचाइयोंसे—

१

मैं तब चीनमें था। चीनके उत्तर-पच्छिमी प्रान्त कानसूमें। कानसू जहाँसे वह ह्युंग-नू जाति चली थी जो सभ्य संसारके ऊपर कुदरतकी चाबुक थी, जिसने विशाल साम्राज्योंकी रीढ़ तोड़ दी, जो बादके इतिहासोंके पन्नोंमें हूण नामसे कुख्यात हुई।

उसी कानसूमें चीनकी प्राचीन सीमाका निर्माण करती यह महान् दीवाल खड़ी है जिसपर मैं ख़ुद खड़ा हुआ। और जो सामने नज़र गई, उत्तर और पच्छिमकी ओर, तो एकसे एक नज़ारे नज़रोंमें उठने और गिरने लगे, उठते और गिरते चले गये। मंगोलियाको भी लाँघती नज़र जो क्षितिज पार साइबेरियाकी ओर बढ़ी तो सर्द और बर्फ़ीली हवाके उठते हुए तूफ़ानोंने आँखोंमें जैसे बर्फ़ झोंक दी, तीखी हवा जैसे जिस्म चीरती जिगर पार कर गई। और तभी ख़्याल आया उन हूणोंका जो इस कानसूसे उठकर युहूचियोंसे टकरा गये थे, जो युहूची फिर शकोंसे जा टकराये और फिर जैसे संक्रमणशील जातियोंका पच्छिमकी ओर बढ़ता हुआ एक ख़ूंख़ार तांता-सा लग गया—भागते हुए शक, उनकी पीठपर युहूची और उनकी पीठपर भालोंकी नोक-सी तेज़ चोट करते हूण, नाटे, सख़्त, तीखे, रक्तके प्यासे, स्वयं जैसे साइबेरिया-मंगोलियाके बर्फ़ीले तूफ़ान!

और ईरानियोंका वह पार्थिव साम्राज्य शकोंकी चोटसे चकनाचूर हो गया जिसका पच्छिमी सिरा साम और फ़िलिस्तीनसे टकराता था, दजला-फ़रातकी घाटियोंपर अपनी हुकूमतकी छाया डालता था, पूरबी सिरा जिसका हिन्दुकुश तक बलख़-बुख़ारा लाँघना चढ़ जाता था। शक पीठपर युइ्चियोंकी चोटें लेते हिन्दुकुश पार कर गये थे, बाख़्त्रीमें वक्षुनदके दोनों ओर बिखर गये थे। और वे हूण चलते चले गये थे, इसी कानसूके पहाड़ी प्रान्तसे स्वयं जिसको और जिसके दक्खिन पूर्ववर्ती चीनी उर्वर प्रान्तोंको यह महान् दीवार कभी बचा न सकी। अत्तिलाकी तलवार तब तारीमका काँठा लाँघती तुफ़ान तकलामकान लाँघती ईरानको सर करती ख़ुरासानको बगली दे यूरोप पहुँची हूण जातिकी कीरति लिख रही थी। उसने दानूब नदके तटपर कुहराम मचा दिया था और वह फिर पच्छिमी गाल तक जा पहुँची थी, नार्वे तक, जहाँ दारा और उससे पहले असुर सारगोन तक न पहुँच सके थे।

और इसी चीनी दीवारकी छतसे उस अत्तिलाकी दानूबकी राह त्यूतनीका जङ्गल लाँघते देखता हूँ जो स्लावोंके देशपर देश लाँघता हंगरी पार रोम जा पहुँचा था, जिसके पहुँचनेसे उस अमर नगर रोमकी दीवारें जड़से हिल उठी थीं और जिस अमर नगरके विख्यात नागरिक, अलबेले छैले, अजेय सेनापति दिलपर हाथ रखकर देवताओंकी दुहाई देने लगे थे, और जहाँसे पैग़ाम भेज रोमन सम्राट्की बहनने उस अमर विजयी अत्तिल हूणको बरा था, और अत्तिल हूण फिर रोमके सिंहद्वारसे निकल लोम्बार्दीके मैदानको उलटे लाँघता हंगरीमें जा बिरमा था। उस हंगरीमें

जिसके नाममें आज भी इस कानसूके हूणोंके नामकी ध्वनि भरी है, जिसको इस महान् दीवारकी छतपर खड़ा एशियाके पार हंगरी और रोमके बीच बजते शस्त्रोंकी झंकारके साथ सदियों पार आज भी सुन रहा हूँ।

कानसू और ह्वाङ्गहोकी घाटी, संसारकी प्राचीनतम सभ्यताओंके भग्न स्तूपोंका सिलसिला, और इस दीवारकी सीमाको लाँघते, पहले और पीछे, मंगोलिया और कानसूके पारसे इस उर्वर चीनी वसुन्धराकी छातीपर धमकते उन ख़ूंख़ार जातियोंको पैरोंकी अटूट धमक सुनता जा रहा हूँ जिन्होंने पिकिंगसे कान्तोन तक अनवरत बहती मानवधाराका संचार कर दिया था। फिर देखता हूँ इसी दीवारसे इस दीवारसे भी पहलेके उस त्सिन हुआंगतीके निर्माण कार्यको जिसने इन हमलावरोंको रोकनेके लिए यह दीवार खड़ी की, १५०० मील लम्बी, ७५ फ़ुट ऊँची, ३० फ़ुट चौड़ी यह दीवार जो कभी कोई हमला न रोक सकी, उसी तरह जैसे न कभी हिन्दुकुश हिन्दुस्तानपर हमले रोक सका, न वह आल्प्स जो न कभी हैनिबलको रोक सका था और न नैपोलियनको ही, उसी तरह जैसे इंगलिश चैनल न कभी रोमनोंको रोक सका था, न नार्मनोंको, न डचोंको।

सदियाँ गुज़र गईं। त्सिनोंके बाद यू और हान आये, तांग और मिंग, युवान और मंचू और वह सिलसिला ख़ूनी और ख़ूंख़ार इस ऊँची दीवारकी छतपर खड़े मेरी नज़रोंमें लगातार उठते जा रहे हैं और सहसा नज़र कुंठित हो जाती है, एक दीवार-सी उठकर और अन्धा कर देती है, और वह दीवार उन मंगोलोंकी है जिनके

अटूट रिसालोंका स्वामी चंगेज़ सहसा चीनमें पैठता है, इस महा-देशके भीतर, इन्सानकी कोमल कायाके भीतर पैठकर घूम जाती-सी एक पैनी तलवार जैसा घूम जाता है। और फिर जैसे चंगेज़का घोड़ा सहसा अलफ़ ले उठता है। घोड़े और सवार, सवार और घोड़े दीवारके पास लौट पड़ते हैं, ईरानको सरकर हिन्दुकुशके पार सिन्धुनदके तीर दम लेते हैं। फिर कुबलाख़ा, और हुलागू जो ख़ुरासानको बगली दे दानूब पहुँचते हैं, आधा रूस सर कर लेते हैं, फिर लौटकर साम और फ़िलिस्तीन, अरब और मिस्रपर घेरा डाल गल्या तक घेर लेते हैं। और यह सारा नज़ारा इस चीनकी इस अकेली ऊँची दीवारकी छतसे देखता जा रहा हूँ। इतिहासके पट खुलते जा रहे हैं, बिखरे पन्ने तेज़ हवासे जैसे उलटते जा रहे हैं, गो तरतीबसे नहीं।

२

और यह पिरामिड है, ख़फ़्रका पिरामिड, गाज़ाकी रेतीली ज़मीनके ऊपर खड़ा क़ाहिराकी दीवारोंके बाहर, दीवारें जो टूट गई हैं, पर जहाँ मेरे संक्रमणशील पैर आ पहुँचे हैं। सैकड़ों-सैकड़ों फ़ुट ऊँचे इस पिरामिडकी चोटीपर आज खड़ा हूँ, जिसकी चोटी आसमानकी छातीमें मस्तक चुभाकर भी स्वर्गके निकट इंच भर भी न पहुँच पायी और जिसके भीतरके सुनहरे ताबूतोंके भीतर अनेकानेक अनुलेपनोंसे लिपी, अनन्त वस्त्रोंकी लपेटसे लिपटी फ़राऊनी काया सहस्राब्दियोंसे रहती रही है और आज जब ओसिरिस और ईसिसकी देवशक्ति भी धरासे उठ चुकी

है, जब मिस्रका कोई इंसान पच्छिमी पहाड़ी मक़बरोंकी पाताली दुनियाके दोज़ख़ और बहिश्तपर ईमान नहीं लाता, तब भी वह काया अपनी उसी पुरानी गरी मौजमें मदहोश पड़ी है। काया और काया, और कितनी ही ऐसी अनेक, जो उन पच्छिमी पहाड़ोंमें पड़ी हैं, जो दूसरे पिरामिडोंमें गाढ़ निद्रामें, उस गाढ़ निद्रामें, सोयी हैं जिससे वे अब कभी न उठ सकेंगी, क़यामतके रोज़ भी नहीं!

और इस पिरामिडकी चोटीसे देखता हूँ फ़राऊनके बाद फ़राऊनका नज़ारा, दक्खिनकी ओरसे उठती हुई लुक्सरके फ़राऊनों और देवताओंकी नील नदके डेल्टोंपर की गई चोटें कि नीलकी सातों धाराएँ लहूसे लाल हो उठती हैं, और फिर अधनङ्गा पुजारी ऐसा प्रबल हो उठता है कि देवतासे फ़राऊन तक उसका हुक्म बजाते हैं, क्योंकि 'ममी' और उसके अनुलेपनका सारा भेद अकेले उसको ही तो मालूम है।

रैमिसिज़के तुके-बेतुके हमले, खत्तियोंके दौत्य, खत्तियोंकी रानीकी राजनीतिक चिट्ठियाँ जो अन्तर्जातीय सम्बन्धकी नींवकी पहली ईंट रखती हैं, और फिर इख़नातूनकी वह निर्भीक मेधा जो सूर्यके बिम्बके पीछे सारे देवताओंका एकीभूत प्राणस्वरूप एकेश्वरवादके स्वप्न देखता है, फिर उसका दामाद वह तूतनख़ामन जो अपने ठोस सोनेके कलेवरमें उतना ही शालीन है जितना उसकी सोलहवर्षीया पत्नीकी अन्तिम विदाके रूपमें उसकी ममीपर रक्खा, आज भी पड़ा, वह मनहर फूलोंका कोमल हार है।

दिशा बदल जाती है और फ़राऊनी ऐश्वर्यपर असुरों और

ख़ल्दियोंका गौरव छा गया-सा दिखने लगता है। असुर नज़ीर-पालके वीर फ़िलिस्तीन लाँघते एक ओर आ खड़े होते हैं दूसरी ओर ज़ूरूसलमके पवित्र मन्दिरको जलाते उसके यहूदी महात्माओं-को क़ैद करते नबूख़दनेज़्ज़ारके रिसाले बाबुलकी ओर लौटते चले जाते हैं। और फिर ईरानी आते हैं, दारा और कुरु, क्षयार्षा और दूसरे विजेता। हरोदोतस्का इतिहास इन हमलोंके बयानसे भर उठता है।

और तब सिकन्दर मक़दुनियाँसे आता है जो मिस्रको रौंदकर फ़राऊनी हुकूमतका अन्त कर देता है, यूनानी शासनकी नींव डालता है। तोलेमियोंका राजवंश सिकन्दरियाको केन्द्र बना सागरके तीर खड़ा हो जाता है। फिर उस कूलमें उन बहनोंकी बाढ़ आ जाती है जिनको अनेक भाई-राजकुमार ब्याहते हैं, क्योंकि यही फ़राऊनी परम्परा है और इस परम्पराके यदि यूनानी राजा परे गये तो बस उनका निस्तार नहीं।

और उन्हीं ग्रीक राजाओंकी परम्परामें एकके बाद एक क्लिओपात्राएँ आती हैं और जब बहन बेरिनिसको मारकर जगत् प्रसिद्ध क्लिओपात्रा मिस्रकी गद्दीपर बैठती है तब रोमन लिजियनों-का ताँता सिकन्दरिया तक लग जाता है और एकसे एक बढ़कर, एकके बाद एक, रोमन जनरल मिस्र आते हैं और क्लिओपात्राकी नज़रका मोल अपने ख़ूनसे चुकाते हैं—क्या पाम्पे, क्या सीज़र, क्या अन्तोनी सबका अन्त बस एक है, उन लहराते काले-भूरे केशोंके पारका वह देश, जहाँ जाकर फिर कोई लौटा नहीं, किसीने लौटकर बताया नहीं, कैसा है वह देश!

सदियाँ गुज़र जाती हैं और रोमनोंका वह प्रान्त मिस्र फिर पदचापोंसे गूँज उठता है, उसकी हवामें अल्लाहो अकबरके नारे बुलन्द होते हैं और मुहम्मदके उस दीनके प्रचारमें रिसाले दौड़ पड़ते हैं जो कुछ ही काल पहले अरबकी सीमाओंसे निकल पड़े थे। और आगे नज़र नहीं जा पाती। पिरामिडकी चोटीसे उतर आता हूँ।

३

यह अक्रोपोलिस् है। प्राचीन एथेंसका केन्द्र, नगरका उपरला भाग। मन्दिर पार्थेननकी अचरजकी संगमरमरी नक्काशीके सामने खड़ा हूँ, देवी अथीनीके मन्दिरके पार देखता, उस लघु एशियाकी तरफ़। और लगातार जातियोंके संक्रमणकी धाराएँ टूटती नज़र आती जा रही हैं—वह ईजिआई सभ्यता, क्रीत टापूके मिनोस राजाओंकी, जिनके क्नोसस्के महलोंमें कभी नाज़ुक कलाएँ अंगड़ाती थीं, जहाँकी सुकुमार नारियोंने मर्दोंके बराबरकी वह ज़मीन हासिल की जो पुरानी सभ्यताओंमें कहीं औरतको न मिली।

उसी ईजिआई सभ्यताका इस ग्रीसकी भूमिपर गिकीनीका वह विशाल प्राचीन नगर पहरुआ था जो पच्छिमी पेलोपोनेसस्के समूचे जनपदका स्वामी था और जिसकी मिट्टीमें कहते हैं इलियदके वीर अगामेम्ननकी समाधि बनी, और दूर लघु एशियाका वह त्राय भी देख रहा हूँ जिसकी एकके ऊपर एक खड़ी, ज़मानेकी दफ़नाई छै-छै बस्तियाँ जर्मन पुराविद् श्लीमानने खोद निकाली थीं। त्राय जिसका राजा प्रियम था, जिसका बेटा पेरिस, जिसने अगामेम्ननके

भाई मेनेलासकी हसीन बीबी हेलेनको रज़ामन्दीसे हर लिया था, पर जिसका मोल उसे भाइयोंके रक्तसे, त्राय नगर और राजकुलके नाशसे चुकाना पड़ा।

एशियाई वीरोंके रिसाले दक्खिनी रूसकी आर्य बिरादरीकी गाँठसे निकल कार्पेथिआई पर्वतमालाओंको लाँघ थेसालीके मैदानोंसे होते धारापर धारा चलते चले आये थे और ईजिआई सभ्यताके केन्द्रोंको, क्रीतसे त्राय तक, क्नोससससे मिकीनी तक, रौंद डाला था, उजाड़ दिया था, और उस ताम्रयुगीन सभ्यताके खण्डहरोंपर अपनी बर्बर लौहप्रधान बस्तियोंकी नींव रखी थी। उन्हींके दर्पिल वीर जीवनकी गाथा-त्रायके विध्वंसके सन्दर्भमें अपने 'ईलियद' महाकाव्यमें अन्धकवि होपरने गाई थी।

उनके बन्धु दोरियाई ग्रीक भी तब देर पीछे न रह पाये और उनकी अटूट धाराएँ भी थेसालीकी ही राह आकर इस ग्रीक धरा-पर प्राचीन-वेष्टित नगरोंमें बस गयीं, एथेंसमें, स्पार्तामें, कोरिंथमें; देल्फ़ीमें, और उनके देवताओंका जुझाऊ दल अपने ही भाई-बन्धु दैत्यों-किक्लोपोंसे जूझता, उस सामनेके हिम-मण्डित ओलिंपस् गिरिके शिखरपर जा बसा जिसके निचले मैदानोंमें ओलिंपियाई चतुर्वर्षीय खेलोंका ताँता लगा, घुड़दौड़ोंका, मानव-धावकोंका।

फिर इसी ऊँचाईसे, अक्रोपोलिस्की इस चोटीसे जो पूरबकी ओर देखता हूँ तो एशियाई जातियोंके परस्पर संघर्षका इतिहास नज़रपर चढ़ आता है—सुमेरियोंकी वह ग़ैरसामी सभ्यता जिसने कीलनुमा लिखावट दी जिससे फ़िनीकी-इब्रानी हरफ़ोंके माध्यमसे

ग्रीक और रोमन लिपियाँ निकलीं, जिस सुमेरी लिपिमें फ़ारसकी खाड़ीसे भूमध्यसागर तककी ज़मीन जीत लेने वाले पहले सामी-बाबुल सम्राट् हम्मुराबीने अपने अमर विधान लिखवाये। देखता हूँ खत्तियोंको जिन्होंने एक ओर मिस्र पर धावा किया दूसरी ओर कुर्दिस्तानपर, अनातोलियाके मैदानोंसे उतर तोरसके बर्फ़ीले दर्रोंकी राह चलकर, जिनके रिसालोंकी बाग़ अगर रुकी तो बस भारतीय आर्य मितन्नियोंके सामने जो अब दजला-फ़रातके बीच उनके उपरले काँठोंमें आ बसे थे।

कस्सियोंने उन्हीं दिनों बाबुलपर चोटकर उसे तीन सदियों भोगा और तब पच्छिमी एशियामें निनवे और कलाके असुरोंकी ताक़तका साका चला जिन्होंने राज्यके राज्य उखाड़ डाले और जिनके पैरोंकी धमक नीलसे दानूब तक और अरमनीसे एलामतक सुन पड़ी। लड़ाईके मैदानमें पहली बार उन्होंने यन्त्रोंका इस्तेमाल किया जहाँ उनके पुरसे-पुरसे ऊँचे जवान अपनी लम्बी दाढ़ी और लम्बे सिरके केशोंके नीचे अपने शिराव्यञ्जित शरीरपर तहमतका लम्बा लेबास पहनते थे, जिनके वास्तुकारोंने ऐसी इमारतें रचीं कि दुनियाके साहित्यमें उनके नाम अमर हो गये।

ख़ल्दी राजाओंने तब—इतिहासकी उन धुँधली सदियोंके पार देख रहा हूँ जहाँ चित्रपटके दृश्योंकी तरह एकके बाद एक दृश्य लगातार उठते आ रहे हैं—असुरोंके हाथसे तलवार छीन ली थी और जुरूसलमके नबियोंको बाबुली क़ैदमें डाल दिया था। नेबूख़दनेज़्ज़ारके नाती बेलशेज़्ज़ारने जब ज़मानेकी गर्दिशमें अपने अरमानोंकी दुनिया रवाँ की तब उसके जशनकी रात महलकी

दीवारपर वह भेद-भरा हाथ निकल लिखता चला गया था— मेने-मेने तेकेल उफारसीन—देख, तू तौल लिया गया है, खबरदार कि अन्त निकट है !—और हख़मनी आर्योंने तभी बाबुलके परकोटोंके द्वार तोड़ दिये थे।

कुरूष् और दारा, और क्षयार्षाकी बेशुमार फ़ौजें तब पच्छिमकी ओर रवाना होती हैं और फ़ासफ़ोरस और दानूब लाँघ दक्खिनी रूसको जीत लेती हैं, फिर थेसालीके मैदानोंकी राह ग्रीकोंके नगरोंमें जा पहुँचती हैं। पेलोपोनेसस्के युद्धोंका मारा ग्रीस अभी मरा नहीं है, क्योंकि वह लड़ाई घूम-फिरकर सदियों चली थी और उससे भी पहले आ धमके थे वे ईरानी आर्य— दारा, ज़रक्सीज़ और थर्मापिली और माराथानके मैदानोंमें उन्होंने एकियाई-दोरियाई चोटोंका हमला ईजियाई सभ्यताकी ओटसे एशियाई होनेके नाते फेर दिया था।

पर बदलोंका सिलसिला क्या कभी टूट पाता है ? एथेंसको जलानेका वह बदला ईरानियोंसे फ़िलिपके बेटे सिकन्दरने लिया, अरस्तूके सँवारे मक़दूनियाके उस ऐकान्तिक वीरने जिसने अपनी रखैल वेश्या-तायाके इशारेपर ईरानकी राजधानी पर्सिपोलिसका लासिसाल महल अपने हाथों जला डाला था ! याद आता है कि उसके पिता फ़िलिपने कभी ग्रीक नगरोंकी स्वतन्त्रता कुचल डाली थी और जब वह अपनी जीतोंकी खुशीमें भतीजीका ब्याह अन्तियोकमें कर रहा था तभी सिकन्दरकी माँ और उसकी चहेती बीबी ओलिम्पियाके लगाये हत्यारेने उसकी छातीमें छुरा भोंक दिया था ! सिकन्दर ख़ुद अपने उस विशाल साम्राज्यको भोग न सका था

जिसके टुकड़ोंके लिए सीरिया, मकदूनियाँ और एपिरसमें तब तक कशमकश होती रही थी जब तक रोमन रिसालोंने तीनोंको जीतकर इटलीके नये साम्राज्यके सूबे न बना लिये।

कहानी पुरानी है, पर कहानी कभी पुरानी होती नहीं, जैसे यादकी तहोंसे निकलकर भी नज़ारे कभी धुँधले नहीं होते। वरना इस अक्रोपोलिस्के खण्डहरोंकी चोटीसे सदियों पारके नज़ारे आज क्योंकर देख पाता ?

४

अब यह आल्प्स है, सामने माउण्ट ब्लांककी बर्फ़ीली चोटी है, सोलह हज़ार फ़ुट ऊँची, जिसके पाससे ही गुज़र रहा हूँ, नारवे-स्विडनके उत्तरायत देशोंसे लौटता, अमर नगर रोमकी राह जाता। और आल्प्सकी इस ठिंगनी ऊँचाईसे जो नज़र उतरती है तो प्राचीन गाल और त्यूतनी, ब्रिटेन और स्पेन, कार्थेज और मिस्र सब, एकके बाद एक, दृष्टिपथमें उठते चले आते हैं, और रोम, उनका स्वामी, उन सभीकी चोटोंका शिकार होता है। देखता हूँ कि एक-से-एक रोमन जनरल अपनी लीजियन सेनाएँ लिये रोमसे निकलते हैं और देश-पर-देश जीतते दिशाओंके छोरों तक चले जाते हैं—सल्ला और पाम्पे, सीज़र और आन्तोनी, आंगुस्तस और अग्रिप्पा, तिबेरियस और हाद्रियन।

७५० ई० पू०। रोमुलसका उदय, रोमका उदय। इक्वि-तीज़की घुड़सवार सेनाएँ, पैदलोंकी बाढ़, रोमन लीजियनें। राज-तन्त्र-अभिजात तन्त्र-प्रजातन्त्र-साम्राज्य और सम्राट्-रोमुलस-सिसेरो-

सीज़र-ओगुस्तस-नीरो । इटलीमें इत्रुस्कनोंकी हारपर उस प्रायद्वीपके उठते हुए नगर और जेनोआकी छायासे बालारुणकी तरह उदय होता रोम । सैकड़ों वर्ष तक चलनेवाले प्यूनिक युद्ध । रोमका फेंका हुआ पासा । चोटें और कायापलट । भूमध्यसागरके चतुर्दिक् सागरवर्ती भूमिके स्वामी फ़िनीकी बनियोंका आतङ्क और व्यापार-के क्षेत्रमें उनका एकाधिपत्य, संसारकी शक्तिका अफ़्रीकाके उत्तरवर्ती तीरके सबसे महान् नगर कार्थेजमें केन्द्रीकरण । व्यापार, साम्राज्यके प्रभुत्वके लिए रोम और कार्थेजके बीच कशमकश ।

और अन्तमें वह देखिए उधर दूर दक्खिन भूमध्यसागर पार कार्थेजके नगरद्वारोंसे उठती हुई धूल और उस धूलके पीछे दौड़ते हानिबलके रिसाले । कार्थेज वह दूर पीछे छूट गया और स्पेनके दक्खिनी कोनेके सामनेका सँकरा समुद्र नावोंके बेड़ोंपर हानिबल आजके जिब्राल्टरके पास ही लाँघ गया । स्पेनके पहरुए जागे पर तबतक स्पेन सर हो चुका था । फिर स्पेन पार फ़्रांसकी सागरवर्ती दक्खिनी भूमि पार इसी आल्प्सकी छायामें जिसकी ऊँचाईसे खड़ा कार्थेजसे बढ़ते हुए रिसालोंको देख रहा हूँ, उनके घोड़ोंके खुरोंसे उठती हुई धूलको, उसके विधाता हानिबलको जो राहके नगरोंको अपने तूफ़ानसे कुचलता चला आ रहा है । उसकी तेज़ीने पूरबके सिकन्दरको सिकन्दरियाकी क़ब्रमें चौंका दिया और अब जेनोआकी राह जा पहुँचा वह उधर रोमनोंके नये राष्ट्रके उदीयमान नगर रोमकी दीवारोंके सामने ।

बार बार लीजियनोंकी हार और अख़ीरमें स्कीपियो आफ़्रि-कानससे मोर्चा—ज़ामाका मैदान जो हानिबलके लिए करबला बन

गया और हानिबल वह भागा मिस्रकी ओर, सागर पार लेबनानकी ओर, ग्रीस-बिथूनियाकी ओर। और ग़ज़बकी मर्दानगीका पटाक्षेप हुआ ख़ुदकुशीके ज़रिये, उस दूरके ई० पू० १९० के सालमें! और उसके हारते ही आफ़्रिकानसने फ़िनीकी नगर कार्थेजको जलाकर बियाबाँ कर डाला, उसके महलोंको मिट्टीमें मिला उसने उनपर हल चला दिया!

रोमका समुदय, देशोंके पतनपर पतन, देशके बाद देशपर अधिकार, स्पेन और ग्रीस, गाल और त्यूतनी, और सागरपारका ब्रिटेन। सीज़रकी यूरोप विजय, फलस्वरूप डायरीमें उसका दर्ज करना—"आया, देखा, जीत लिया!" इंगलिश चैनल लाँघनेके पहले उसके पैरोंके नीचे मिट्टीमें पेरिसका पहली साँस लेना—किसने जाना तब कि वही पेरिस एक दिन क्रान्तियोंका जनक होगा, कि वहीं कला हज़ार तेवरोंसे आकलित होगी, कि विलास एक दिन वहाँ नंगा नाचेगा?

अधिकारके लिए कशमकश—सीज़र और पांपे, दोनों मिस्रके शिकार, और षड्यन्त्रकारी सिनेटरोंके सीज़रके ख़ूनसे रँगे हाथ—फिर कशमकश—ओक्ताविअस् और आन्तोनिअस्—सीज़र और क्लियोपात्राकी जगह अब आन्तोनिअस् और क्लियोपात्रा, और अन्तमें अकेला ओगुस्तस ईरानसे ब्रिटेन तक फैले रोमन साम्राज्यका एकमात्र स्वामी।

उधर रोममें वह पलातीनी पर्वत है, समतल शिखरवाला जिसपर ओगुस्तसके महल खड़े हैं और जहाँसे उसके फ़र्मान दूर-दूर एलान होते हैं। उसी साम्राज्यके पूर्वी हिस्सेमें यहूदियोंके जुरूस-

लमके पास ही उनका बेथलेहेम है जहाँ नज़रथका बढ़ई बीबी मरियमके साथ एक अस्तबलमें डेरा डाले पड़ा है, और उस अस्तबलकी चरनमें मरियमका बच्चा पैदा होता है और वह सद्योजात एक दिन ईसा बनकर आसमानसे ज़मीनपर बिहिश्त उतार लानेका प्रण करता है। और उस अस्तबल और ओगुस्तसके महलोंके बीच लड़ाई छिड़ जाती है—अस्तबल जीत जाता है, महल हार जाता है।

सदियाँ, वह देखो, कालके उतारपर उतरती चली जा रही हैं। रोमकी शक्ति क्षीण हो चलती है, उसकी जीतोंका बोझ उसके कन्धोंको झुका देता है और हूण और पच्छिमी गोथ साम्राज्यकी रीढ़ तोड़ देते हैं। त्यतन और विज़िगोथ (पच्छिमी गोथ) कभी ग़ुलाम बनाकर उत्तरसे लाये जाते थे और वे ग़ुलाम रोमके कोलोस्सियमके अखाड़ेमें शेरोंके सामने छोड़ दिये जाते थे, लड़ते थे, मर जाते थे, मार डालते थे। मारनेकी वे तदबीरें, जिनकी खोजकी वहाँ इन्तहा न थी, और कोलोस्सियमकी गैलरियोंमें बैठे सम्भ्रान्त नागरिक और नागरिकाएँ प्रसन्न तब होतीं जब ग्लैडिएटर लड़ाका शेरको मारकर ख़ुद क्षत-विक्षत हो जाता, पर हार आख़िर उसीकी होती क्योंकि शेरोंकी कमी क्या थी, श्रीमानोंके पास समयका अभाव कहाँ था?

और एक दिन विज़िगोथोंका सरदार अलारिक सहसा रोमके द्वारपर जा खड़ा हुआ। उसके तेवरोंके चढ़ाव मात्रसे रोमके लौहद्वार खुल गये और अभिजातोंके पसीने छूट चले। अलारिकने अपने आप मुश्किल आसान कर दी, माँगा—सैंतीस मन भारतकी काली

मिर्च ! भारतके मोतियों और गरम मसालोंकी रोममें कमी क्या थी ? मिर्च मिल गई, तीन हज़ार पौंड, साढ़े सैंतीस मन—मिर्च दूकानोंसे आई, बन्दरके बड़े तिजारती जहाज़ोंसे, अभिजातोंके रसोइयोंसे, और दूर देशकी काली मिर्चने रोमनोंकी उस अमर नगरीकी रक्षा अलारिकसे कर ली।

पर मात्र अलारिक ही रोमका राहु न था। अत्तिला हूण जब चलता धरा हिल जाती, और अब वह हंगरीमें हूणोंकी बस्तियाँ बसाता रोमपर चढ़ चला था। हूण, खूंख़ार खूनी हूण, जो चीनके सूबे काँसूसे चले थे और ईरान लाँघते कुर्दिस्तान और अर्मीनियाँमें, दक्खिनी रूसमें बस गये थे, और अब दानूबकी घाटीमें उनके ख़ेमे खड़े होते थे और वहाँसे वे एक ओर नार्वेपर धावा बोलते थे दूसरी ओर रोम पर।

रोम फिर बच गया, सम्राट्की भगिनीके बदले, पर साम्राज्यकी कमर टूट गई थी। दो हिस्से हो गये थे उसके, पच्छिमी और पूर्वी, पच्छिमीकी राजधानी रोम थी, पूर्वीकी बिज़ान्तीन। पच्छिमी साम्राज्य त्यूतनोंकी चोटसे टूट गया, पूर्वी साम्राज्य अरबों और तुर्कोंकी चोटसे टूटा, जब सन्त सोफियाके गिरजेकी सीढ़ियोंपर आख़िरी रोमन सम्राट्का तन १४५३ में तुर्क नेज़ेसे तड़पकर दो टूक हो गया।

और सदियाँ बीतती चली गईं और ताक़तें बदलती चली गईं—जर्मनी और फ्रांस, फ्रांस और जर्मनी, स्पेन और ब्रिटेन, ब्रिटेन और स्पेन, फ्रांस और इटली, स्पेन और इटली, आस्ट्रिया और इटली, नेपोलियनके तूफ़ानी हमले और क़ैसर और हिटलरके

कुचले देश, पहले और दूसरे महायुद्धोंका रक्तरञ्जित यूरोप, भय-विगलित मानवीयता। और दोनों युद्धोंके बीच आसमानकी लालीको अपने गहरे लाल इंसानियतके झंडेसे मलिन करता वह सोवियतकी जनशक्तिका बुलन्द होता सितारा!

५

यह मेरे वतनकी सरहद है—कराकोरम, कश्मीर और चित्रालको समुन्दरसे जोड़ता, पृथ्वीका मानदण्ड बना, ईरान और हिन्दुस्तानको बाँटता हिन्दुकुश। पुराना नाम इसका निषध है, पर हिन्दुकुश इसका नाम कैसे और कब हो गया, कह नहीं सकता। ज़ाहिर है कि नाम ईरानी है, फ़ारसी-पहलवीका लफ्ज़, पर इसका मतलब क्या है आज बता सकना कुछ आसान नहीं। 'हिन्दुकुश' हिन्दुओंके क़त्लसे तात्पर्य रखता है या क़ातिल हिन्दुओंसे, नहीं कह सकता, पर ज़ाहिर है कि आज नाम इसका हिन्दुकुश ही है जिसकी छतपर, जिसके बर्फ़ीले काबुली पठारपर, आज उन अफ़ग़ानोंके बीच खड़ा हूँ जिनको उनका क़ौमी पठान नाम उन पक्थोंने दिया था जिनकी प्रशस्ति कभी ऋग्वेदके ऋषियोंने गाई थी।

उसी हिन्दुकुशकी चोटीसे दरोंकी राह गुज़रनेवाले काफ़िलों और रिसालोंको देख रहा हूँ। उनकी पाँत नहीं टूटती, न रिसालोंकी, न ऊँटोंकी कतारोंकी! ये आर्य हैं ऊँचे, तगड़े घुड़सवार, धनुर्धर, जो लमहे भर सप्तसिंधुकी ऊँचाईयोंपर खड़े होते हैं फिर नीचेके मैदानोंमें, नदियोंकी घाटियोंमें बिखर जाते हैं, अपने गाँवोंके बल्ले गाड़ देते हैं।

ये दूसरे ईरानी हैं, ये ग्रीक और शक, और ये कुषाण, हूण और तुर्क, मंगोल और पठान, और फिर मुग़ल, एकके बाद एक, ऊँचे, तगड़े और नाटे भी। और यह स्रोत उस नदीका है जो अपने देशकी इन्सानी ज़मीनपर बहकर उसे ज़रख़ेज़ बनाती है और हम उसी बहती हुई इन्सानी ज़ंजीरकी कड़ियाँ हैं, सबके बहकर घुल मिल जानेके बादकी पिघली हुई, पिघलकर कड़ी हो गई फ़ौलादी कड़ियाँ।

इस रफ़्तारकी कहानी बेइन्तहा लम्बी है। और हिन्दुकुशकी इस ऊँचाईसे समुन्दरकी वह राह भी साफ़ नज़रमें उठ आती है जिसकी मंज़िलें वास्को दा गामासे हाकिन्स तक यूरोपीय माँझी साफ़ करते हैं और अपनी आढ़तोंकी सीमाओंको लाँघकर उन्हें साम्राज्यमें बदल देते हैं। फिर अपनी जनताका उनसे संघर्ष देखता हूँ, और देखता जा रहा हूँ उस संघर्षसे उठती और विलीन होती लहरें जो उठ-उठकर इस हिन्दुकुशकी चोटीको डुबो देती हैं और मैं भी अपने आज़ाद होते देशके अमृतमें डूब जाता हूँ। आमीन्!

● ● ●

मैं मज़दूर हूँ

मैं मज़दूर हूँ—जीवन-बद्ध, श्रम-शक्तिकी इकाई !

मैं मेहनतकश मज़दूर हूँ । आदमीके बनैलेपनसे लेकर आजकी शिष्ट सभ्यता तककी सदियोंपर मेरे हथौड़ेकी चोट है । ज़मानेने करवट ली है, कालके प्रवाहमें ज्वार-भाटे आते-जाते रहे हैं, पर मैंने कभी ज़मीनसे पीठ नहीं लगाई, सुस्तानेके लिए कभी फावड़े नहीं टिकाये । मेरे बाज़ूपर ज़माना टिका है, घुटनोंपर अलकस दम तोड़ती है । मेरे कन्धोंपर भूमण्डलका भार है, उसे उठानेवाले ऐटलसके साथ । पर मैं जो हूँ कि कभी गरदन नही मोड़ता, कन्धे नहीं डालता, उन्हें कभी बदलता तक नहीं !

कन्धे डाल दूँ तो ग़ज़ब हो जाय, दुनिया लड़खड़ा कर गिर पड़े, ज़मानेका दौर बन्द हो जाय । पर मैं कन्धे नहीं डालता, न डालूँगा । मैंने निरन्तर निर्माण किया है, विध्वंस न करूँगा । यदि करना हुआ तो पुनर्निमाणके लिए, जिसके लिए मुझे कभी थकान नहीं महसूस होती, कभी अलकस नहीं लगती, रोआँ-रोआँ फड़कता रहता है ।

मैंने सदा निर्माण किया है । मेरे निर्माणकी कहानी कोई मिस्रके मैदानोंसे पूछे, गीज़ाके पिरामिडोंसे, लुक्सरके मन्दिरोंसे, चीनी दीवारसे और हिन्दुस्तानके मन्दिरोंसे, ऊरकी क़ब्रोंसे, कार-थेजकी नहरोंसे, रोमके कोलोसियमसे, फिर आलसेस-लोरेनकी

खानोंसे, कैवेडाके खेतोंसे, आसमानकी छाती चीरकर उठनेवाली न्यूयार्ककी इमारतोंसे, मेरी अपनी दुनिया मिटी-बनी रूसी शिखरोंसे, जो समरकन्दकी मीनारोंको अपने सायेमें लिये हैं, अलहमाराकी बुर्जियाँ जिनकी ऊँचाईपर क़ुर्बान जाती हैं !

मेरे निर्माणकी परिधिकी व्यापकता अनन्त है, उदयाचलसे अस्ताचल तक, क्षितिजके छोरों तक। हज़ारों वर्ष पहले, कलयुग भी जब अभी अन्तरालके गर्भमें था, मैंने नदियोंके बहाव रोक दिये, बहाव जो अभी ताज़ा थे प्रखर प्रकृति वेगसे प्रेरित। बहाव रोककर सुविस्तृत ह्रद बनाये, बाँधसे घेर कर 'डैम', जिनपर पर्जन्य-विरहित भूमिकी उर्वरा शक्ति अवलम्बित हुई। बढ़ते हुए समुन्दर-का मैंने जल सुखाया, दलदलोंको ठोस ज़मीनका जामा पहनाया और उसपर फ़सलोंकी हरी धानी क्यारियाँ दौड़ाईं।

कश्मीरका नाम लेते हृदयमें जो आज आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं, उसकी नम दलदलभरी भूमि किसने सौंदर्यसे रँगी ? किसने झेलमके तटवर्ती आकाशको सुरभि-बोझिल वायुसे मदहोश किया ? किसने उसके कारणस्वरूप केसरकी फैली क्यारियोंमें जादूकी मिट्टी डाली ? कल्हणकी क़लमसे पूछो—किसने ?

दिन सोता था, रात सोती थी, पर मैं जागता था जब नीलनदकी धारा छातीपर चट्टान ढोती थी, दक्खिनी पहाड़ोंमें मेरी काटी चट्टान। इन चट्टानोंको मैंने नीलकी तरल छातीसे उठाकर अपनी छातीपर रखा, अपने बाज़ुओंपर, कन्धोंपर, गरदनपर, और चढ़ा दिया पाँच सौ फ़ुट ऊपर आसमानकी छाती छेद, गीज़ा और सक्काराके मैदानोंमें, अपनी ज़िन्दा छातियोंसे, इसलिए कि

मुर्दा छातियाँ उस धूपसे भुनी बालूमें पिरामिडोंकी छायामें चिर निद्रामें सोयें ! और हमारी वे ज़िन्दा छातियाँ ! ज़िन्दा पर घावों भरी यादोंकी मारसे अधमरी, उन यादोंकी जिनमें प्यारकी गाँठें सौ-सौ धागे होकर बिखर गयी थीं क्योंकि चहेतीको, पहचानी सखीको, चिरब्याही नारीको उस दूरके बियाबाँमें भी याद करनेका मुझे अधिकार नहीं था। और नीलकी वह गहरी स्वच्छ जलभरी छाती जिसकी गहराइयोंमें हमारे लाखों लाल डुबा दिये गये जिससे पिरा-मिडोंकी बुलन्दीपर काम करनेवाले हमको उन प्यारज़ादों-दुध-मुँहोंकी याद न आये, मन कामसे हट कर कहीं उनकी ओर न लग जाय, कहीं उन बघनखे स्फिंक्सोंकी दम ख़ममें ग़लत उंरब न आ जाय !

मैंने पहाड़ काटा, चट्टानें खोदकर ताँबा निकाला, टीन, सोना, चाँदी, लोहा, कोयला, हीरा ! पातालमें घुसकर जब तपता दिन नरककी रातोंकी अँधियारी लिये उन खानोंमें उतरता मैं पत्थर काटता होता, अपने मालिकोंके लिए सोना निकालता होता। सोना जो मेरे लिए न था। कोलारकी खानोंसे अमरीकाकी नई दुनिया तक। ज़मीनकी छाती फाड़-फाड़कर मैंने चमकता लोहेसे कठोर हीरा निकाला और दक्षिणी अफ्रीकामें आज भी निकाले जा रहा हूँ, पर उसकी चमकके नीचे मेरी काली अँधियारी ज़िन्दगी है !

मेरी खोदी ज़मीनको घेरे शेर-से ख़ूँख़ार कुत्ते खड़े रहते हैं, मुझे घूरते, मेरी एक-एक हरकतपर छलाँग मारते। अगर मैं अपनी जगह बुत बनकर खड़ा न रहा तो पीठ फेरते ही पिंडलियाँ उनके मुँहमें होंगी और उनके घेरेसे बाहर निकलते ही वह अमानुष अप-

मान एक्स-रे जिससे अन्तर खुलकर चमक जाय। मैं हीरा निकालता हूँ!

रोमका वह 'कोलोसियम' मैंने अपने हाँथों खड़ा किया, जैसे कभी एथेन्समें 'अरीना' का निर्माण किया था, जहाँ गेरेसे ही ग़रीबोंको श्रीमानोंकी दृष्टिसुखके लिए शेरोंसे लड़ना होता था। वैसे ही स्पेनके वे ख़ूनी अखाड़े भी जहाँ लड़ाकोंको साँड़ोंसे मौतकी बाज़ी लगानी होती, जैसी आज भी मैक्सिकोमें लगानी होती है।

बाबा आदमके वनोंको काट मैंने पत्थरकी-सी ज़मीन खोदकर नरम कर डाली। उसे जोत-बोकर हरा कर दिया। विजयोंसे लौट रोमन जेनरलोंकी प्रान्तीय भूमि, मीलों फैले खेत मैंने बोये-काटे, सामन्तोंकी दुनिया मैंने बसाई, जिसकी ऊँची भूमिपर मैंने ही किले और दुर्ग खड़े किये, जिनकी गहराइयोंमें आदमीको भूखे शेरकी भाँति कटघरोंके पीछे रखा जाता था, क्या बास्तिल, क्या वेनिसके डूचेका डञ्जियन, क्या ग्वालियरका गढ़।

अफ़्रीकाके जंगलोंसे बनैली हालतमें डाके, चोरी साज़िश द्वारा मैं खींच ले जाया गया, एक दूरकी अनजानी दुनियामें, समुन्दर पार। पर मेरे लिए स्वदेश-विदेशकी परिपाटी न थी। मैंने वहाँ भी उस गोरी दुनियाका पेट भरा, अपना पेट काटकर, संसारको अघा देनेवाली उपजके बीच भी भूखा रहकर। फिर वहीं उनके लिए मैंने आसमान चूमनेवाली इमारतें खड़ी कीं, जहाँ एक-एकमें गाँव-नगरकी संख्या बसी, मेरी झोपड़ियोंसे घृणा करनेवाली दुनिया!

मैं ज़मीनको खोदकर, उसे जोत-बोकर सोना उगलनेपर मजबूर करता था, पर वह सोना ख़ुद मेरे लिए न था। मेरे लिए वह सोना आग था जिसे छूकर मुझे शूलकी नोकपर जलना होता। मुझे उस फ़सलको काटकर, दा-उसाकर, राशि कर देना था पर उसका एक दाना भी छूना मेरे लिए मौतका परवाना था, तिल-तिल मरनेका, उन पीड़ाओंका जिनके लिए मनुष्यकी मेधाने एकसे-एक जतन प्रस्तुत किये थे। हाँ, मुझे उस कटे खेतकी ज़मीनपर अब चिड़ियोंकी भाँति फिरनेका अधिकार था, जहाँ कभी कोड़ोंकी चोट सीनेपर झेलते हुए मैंने अन्नकी राशि खड़ी की थी, कि मैंने अपना आहार मिट्टीमें पड़े कणोंको चुन लूँ। तब कणादका तप मैंने पूरा किया।

हाँ, मैं उस ज़मीनके साथ बँधा ज़रूर था। उस ज़मीनकी तरह मैं निरीह भी था। ज़मीन बेची जाती थी, मैं भी उसीके साथ, मय जानवरोंके, बिक जाता था। न उस ज़मीनको अपनी उपज खानेका हक़ था, न मुझे। प्राचीन कालसे ही मेरी संज्ञा घरके मवेशियोंकी सार्थकता रखती थी। प्राचीन ऋषि तकने जानवरोंकी ही भाँति मुझपर भी दया करनेकी ताकीद की थी! गृहिणीको ऋषिने मेरे प्रति करुण होनेकी हिदायत करते मुझे चौपायोंके साथ रखा, उसे गृहके सभी जनोंके साथ 'दोपायों-चौपायों' का साम्राज्ञी होनेका आशीर्वाद दिया, 'साम्राज्ञी द्विपदश्च-तुष्पदः!'

जंगल काटकर मैंने गाँव खड़े किये, क़स्बे और नगर। मैं भूमिके साथ बिकता रहा। फिर धीरे ही धीरे मैंने विशाल

जनसंकुल नगर बनाये जिनमें कारख़ानों, मिलोंका दैत्य 'कोलाहल' के शोरसे धुँआँ उगलने लगा। उनकी चिमनियोंकी छायामें रात-दिन मैं इस दिनकी ही भाँति जीते दम लौट-लौटकर पसीना बहाता रहा। जब मशीनकी चपेटमें आकर मैं अपाहिज हो जाता, मेरा नाम रजिस्टरसे ख़ारिज़ कर दिया जाता; जब मैं उसकी चोटसे गिरकर फिर न उठ पाता तब मैं सड़कके कूड़में डाल दिया जाता। मेरी मृत्यु की जवाबदेही किसीको न थी, न मेरे बाल-बच्चोंके प्रति, न मालिकोंकी अपनी सरकारके प्रति। मोंतेस्क और मिल लिखते ही रह गये !

और मेरे बाल-बच्चे! उनके न घर थे न द्वार। मिलोंकी दीवारोंकी आड़, धुएँके बादलोंकी घनी छाया और टाट-फूस-टिनसे घिरी मेरी दुनिया, जिसमें मैं ही सपरिवार न था, मेरे-से अनेक अभागे थे। और वहाँका पापमय, घिनौना जीवन, शर्मनाक, नरकके कीड़ोंका। उधरकी ऊँची दुनियामें, पार्लिया-मेण्टोंमें, पापके विरुद्ध क़ानून बनते रहे और क़ानून बनानेवालों की इधरकी दुनियामें उन क़ानूनोंको चरितार्थ करते हम कृतकृत्य होते रहे। चारों ओर अँधेरा था, घिरौंदोंके पीछे, उन मकान कहलानेवाले घिरौंदोंके, जहाँ दिन-रातकी मजूरीसे थका-माँदा जीवन बिना लहराये टकराता और टकरा-टकराकर टूट जाता था। और ये घिरौंदे उसी तेज़ीसे गला-पचा जीवन उगलते थे जिस तेज़ीसे दीवारोंके पीछेके कारख़ाने तैयार माल!

बैलगाड़ीसे रथ बने, रथसे महारथ! उधर हमारी मिलोंने क्रान्ति की, और हमने भापसे चलनेवाले इंजन गढ़ दिये, इंजन

जो ज़मीनपर दौड़ते थे, पानीपर तैरते थे। बैलगाड़ी रेल बनी और नाव जहाज़। रेल पानीमें आग लगा सैकड़ों मील घण्टोंमें दौड़ने लगी, जहाज़ आसमान चूमती लहरोंपर तूफ़ानोंमें नाचने लगे। पर मैं वहींका वहीं रह गया।

मैंने जैसे मोटर-रेलसे ज़मीन नापी थी, वैसे ही अब अपने ही बनाये हवाई जहाज़ोंसे बाज़ोंके छक्के छुड़ाने लगा, पर जैसे मैं उनका कोई नहीं। भला उनके भीतर बैठनेवालोंसे मेरा क्या वास्ता? नाव चलानेवाला मल्लाह नावपर, उसे अपना कह, दिन भर बैठ लेता है, हलवाई अपनी बनाई मिठाईको जब-तब चख लेता है, पर *अपनी ही जोड़ी-बनाई मोटरको, जहाज़को,* क्या अपना या उनका कह एक मिनटको भी भोग सकता हूँ?

इनके लिए मैं पहाड़ोंसे लोहा-कोयला-टिन खोदता हूँ, अल्युमिनियम तैयार करता हूँ, तेल और पेट्रोल निकालता हूँ। तेल और पेट्रोल, जिनके विस्फोटसे अनेक बार मुझ जैसोंकी दुनिया पलट जाती है, जिनके लिए धर्मका झण्डा फहरानेवाले बेदीनोईमान हो जाल-फ़रेब करते हैं, क़ानून बनाते हैं, क़ानूनी शर्तनामोंके नामपर ख़ूनी लड़ाइयाँ लड़ते हैं।

ख़ूनी लड़ाइयाँ! इनके लिए भी मैं अपना ख़ून पसीना एक करता हूँ। लड़ाइयाँ धर्मकी हैं, अधर्मकी हैं, ग़ुस्से और बर्दाश्तकी हैं, हक और नाहक़की हैं, लड़ाई और अमनकी हैं, दोनोंको मिटा देनेकी भी हैं, और कई क़िस्मकी हैं जैसा 'ये' उनकी क़िस्म-क़िस्मकी परिभाषा बनानेवाले कहते हैं। मैं नहीं जानता उनकी परिभाषाएँ और पिस्सू और खटमल तककी जान निकलते

देख एकबार घबड़ा उठनेवाला मैं दानवकी भाँति दिन-रात चलते मशीनोंसे संहारके साधन सिरजता जा रहा हूँ, क्योंकि मेरा कारख़ाना हरबे-हथियारोंका है, तोप-बन्दूकोंका, गोले-बारूदका, बमका।

पिस्सू-खटमलकी चोटपर आँसू बहानेवाला मैं आख़िर चींटीको चीनी चटानेवालों—'कृपालु पिता' के नामपर 'सेमिनरी' चलानेवालों—का नौकर ही तो हूँ! मुझे इससे क्या कि जिन मशीनों, बन्दूकों, तोपों, जहाज़ोंके मैं टुकड़े-हिस्से बनाता हूँ, वे एक दिन मुझसे ही हाड़-मांसके असंख्य जनोंको उड़ा देंगे। सच, इससे मुझे क्या? मैं तो तेलीका बैल हूँ, मुझे कहीं भी नाथ दो मैं तो चलता ही जाऊँगा, उन्हीं मशीनोंकी तरह जिन्हें अपने चलाने वालोंके इशारोंसे चलना होता है, जो अपनी मार या असरको नहीं जानते, न उस सूनी दुनियाको जिसकी वे सृष्टि करते हैं।

सुन्दर आसमानपर पुल बाँधनेवाला मैं अपनी कुव्वत आप नहीं जानता। एक बार भी मैं नहीं सोचता कि मेरे जिन हाथोंमें भरे मैदानोंको बग़ैर ख़ून बहाये सुला देनेका जादू है उनमें मसीहाका भी असर है। काश मैं इसे समझ लेता! काश मैं इसके राज़को अपने सामने बिखरे मृत्युके इन साधनोंको सिरजते इन्हींकी भाँति साफ़ देख लेता!

संसार आसमानके छोरों तक फैला हुआ है, धरतीका विस्तार क्षितिजके पार तक वैसा ही व्यापक है जैसा आसमान, रत्नाकरका सौन्दर्य उतना ही अमित है जितना वसुन्धराका, और उनके मन्थनसे शहरोंमें समृद्धि भरी है, परन्तु वह मेरे लिए क्यों

नहीं है, मैं पूछता हूँ ? मुझमें कभी दानवकी शक्ति थी, मेरे इस मानवकी मज्जामें, मेरी इन शिराओंमें फ़ौलादके तारोंकी जकड़ थी, पर आज इतना निःसत्त्व मैं क्यों हूँ, इतना नगण्य और नंगा क्यों ?

दुनियामें क्या नहीं ? कौन सी चीज़ मैंने अपने हाथों नहीं पैदा की ? मेरे सहारे कारख़ाने अमित मात्रामें माल उगलते जा रहे हैं। मैं तृणसे ताड़ बनाता हूँ, तिलसे पहाड़। नगरको ढो सकने वाले जहाज़ोंसे लेकर सुई तक कोई महान् और अदनी चीज़ नहीं जो मेरे स्पर्शके जादूसे जीवन धारण न कर लेती हो। पर यह सब कुछ भी मेरे लिए क्यों नहीं ? मैं इनमेंसे तिनका तक भी नहीं ले पाता। मैं भूखा और नंगा हूँ पर क्या ये मिलें जिनमें मैं खाने-पहिननेका अपार सामान तैयार कर रहा हूँ मेरा पेट नहीं भर सकतीं, तन नहीं ढक सकतीं ? इसका उत्तर भला कौन देगा— इन्हें जो बनाता है वह मैं, या जिनके लिए बनाता हूँ वे ?

● ● ●

अभिसारका आकर्षण

विवाह इसलिए कि मनुष्य व्यवस्थाके प्रति कम खतरनाक हो सके, समाजके प्रति अधिक श्रद्धावान्। पर श्वेतकेतुओंके बावजूद संकेतस्थान बनते चले गये और उनकी परम्परामें अभिसारकी तरंगे उठतीं और विलीन होती चली गयीं।

पिछले युगोंमें किसीने गाया, 'चुम्बन मधुर होते हैं, पर चुराये चुम्बन मधुरतर!' किन्तु यह तो मात्र प्रतिध्वनि थी उस अभिसारकी जिसकी सिद्धिके अर्थ ऋग्वेदके ऋषिने जारके पक्षसे गाया था—"सो जाओ ससुर, सो जाओ भली सास, और सो जाओ वरुणके निस्पन्द अपलक जागनेवाले चर! इस गृहके द्विपद-चतुष्पद सो जाओ, दोपाये दास-दासी, चौपाये गाय-घोड़े और तुम भी मेरे भयावने श्वान, जिसके नेत्र निद्राके वशीभूत नहीं होते, जिसकी दाढ़ें और पंजे चोरों और जारोंके लिए इतने भयावह होते हैं, सो जाओ और तुम्हारा वह भौंकना बन्द हो जाय जिससे मैं इस श्यामल रजनीकी निस्तब्धतामें प्रियाको भेंटूँ! और वायु, तुम ऐसी बहो कि ये सब प्राणी अपनी सुधबुध बिसार दें, कि मैं उषाके आगमन तक प्रियाको भेंटूँ! हाँ, पर इन संज्ञाहीनोंके बीच तू प्रियाको प्रबुद्ध रख जो इस काल मेरी प्रतीक्षामें जाग रही है"—

प्रबोधया पुरन्धि जार आ ससतीमिव ।
प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वा सयोषसः ॥

जब पितासे भिन्न ऋषिने श्वेतकेतुकी माताका हाथ पकड़ अमराइयोंकी ओर संकेत किया तब पिताको यह अमान्य न हुआ, माताको अमान्य न हुआ, अमान्य हुआ तो उसको जो न तो बीज था न क्षेत्र। और उसने 'आवाह-विवाह' की युगल व्यवस्था कर दी, यद्यपि अभिसारोंकी परम्परा चलती रही, कृष्णाभिसारिकाएँ और शुक्लाभिसारिकाएँ अपने सूनी राह चलती ही रहीं, अपने वनमालीके आलिंगनको अपनी जमुनाके तीर! मध्यकालकी रमणियाँ तो इतनी निर्भीक हो उठीं कि अपने रमणसे मिलने संकेतस्थानकी ओर आधी रातके सुईसे छिद जानेवाले अन्धकारसे भी उन्हें डर न लगता था—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।

इन अभिसारोंका आकर्षण कभी मिटा नहीं, उनकी महिमा बढ़ती ही गई और हमारे महाकाव्योंके एकान्तिक वीर और समाजके नायक उन्हींसे प्रजनित होकर समाजकी रक्षाके लिए उन्हींके विरुद्ध विधि-निषेधकी व्यवस्था देने लगे। अभिसारोंकी परम्पराने एक युगमें नियोगका रूप लिया जब श्वेतकेतुके पिताकी परम्परा लौटी और भर्ताने पत्नीके क्षेत्रको अपनेसे भिन्न हलधरको सौंपा।

अभिसारोंकी अटूट परम्परापर अगर हम नज़र डालें तो अनेकानेक रत्न उसकी टूटी जंज़ीरोंसे टपक पड़ेंगे। अतिकामा उर्वशी उस दिन मित्र और वरुणकी नज़रके नीचेसे अपने कटिचुम्बी कुन्तल खोले निकल गई थी जब तपनेवाले मित्र और पाप-

पुण्यकी तुला धारण करनेवाले वरुण सात्त्विक स्वेदसे आर्द्र हो गये थे। और तब उर्वशीके अधखुले काले सागरसे गहरे नयनोंपर दोनोंका पौरुष बारी-बारीसे छा गया था और इन्द्रकी प्रेयसी अपने पोरपर पोर खोलती चली गई थी। और, कहते हैं, उस अमैथुनी सृष्टिसे सम्भूत हुए थे हमारी सारी विधिक्रियाओंमें निष्णात पुरोधा, पुण्यकी मूर्ति वसिष्ठ !

अभिसारका स्वाद जब एक बार लग जाता है तब कालिदास वाली बात—ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ?—चरितार्थ होने लगती है सो संकेतस्थानके निर्जनमें मित्र-वरुणने फिर एक बार इन्द्रसे उसकी प्रेयसी उर्वशी चुरा ली। फिर निदाघकी जली कायापर जैसे सावनकी रिमझिम हुई और अगस्त्यका पुनीत शरीर हमारी पावन संस्कृतिपर त्रिविक्रमके चरणोंकी व्यापकता लिये अवतरित हुआ।

आह, इन मित्रावरुणोंकी परम्परा ! चन्द्रमा और इन्द्रकी ! वंचित बृहस्पतिकी, महर्षि गौतमकी परम्परा, तारा और अहल्याकी !

एकान्तिक नीरवतामें एक दिन गुरु-पत्नी तारा चन्द्रमाके रश्मिजालमें उलझ गई, और बिंध गई उसकी कोमल मरीचिकाओंसे, और उस मृदुल तारिका और स्पृहणीय चन्द्रमाके संगमनका परिणाम हुआ अभिराम ग्रह बुध। युद्ध छिड़ गया—देवताओं और दैत्योंमें। देवता प्रकृतिके ऊपर संस्कृतिको प्रधान मानते थे, दैत्य संस्कृतिके ऊपर भीतरकी प्रकृतिके अन्तर्दाहको प्रधान मानते थे। सोम (चन्द्रमा) ने गुरुपत्नीका हरण कर देवोंकी व्यवस्था भंग की थी, सो देवता कुपित हो गये, दैत्य सराह उठे और

देवासुरसंग्राम छिड़ गया। तारा बृहस्पतिको मिल गई, सोम शिवके शूलसे 'भग्नात्मा' हुआ। पर मित्रावरुणकी परम्पराने अपनी शृंखलामें एक कड़ी और जोड़ ली!

और इन्द्रका वह प्रेमाभिनय! स्वयं देवराजने चन्द्रमाके विरुद्ध वज्र धारण किया था, जब उसने ताराकी आत्माके अनुकूल एक रात उसका वरण किया। पर स्वयं देवराजके प्रणय-साधनके लिए चन्द्र रूपी सोमने आधी रातको अपनी चाँदनी अन्धकारमें डुबाकर कुक्कुटका रूप ले ध्वनि की, जिससे पिछले युगोंके वैयाकरण पाणिनिको अपने 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः'की प्रेरणा मिली, और सुबह हो गई। दोनोंके लिए, अहल्या और इन्द्र जैसे गुप्तगामियोंके लिए भी, सोम और गौतम जैसे अभिसारोद्बोधक और अपहृतोंके लिए भी। ब्रह्मा द्वारा अभिसृष्ट नारीकी सर्वोत्तम काया अहल्याने जो श्मश्रूल, तपपरुष तापसके काठिन्यसे हटकर रम्भा, उर्वशी, तिलोत्तमा सेवित कमनीय इन्द्रकी छायामें तनिक विराम लिया, तो परम्पराका अधिकार ही तो बरता!

कभी यमीने अपने भाई यमसे संकेतस्थान माँगा था और उसके न दे सकने पर उसे भीरु और कायर कह उसने गाली दी थी। वह कहानी ऋग्वेदकी है। उसीकी तरह दूसरी कहानी पुरुरवा और उर्वशीके अभिसारोंकी है। उर्वशीके राजाके प्रति अभिसारोंने प्रतिष्ठानकी रानियोंका गार्हस्थ्य संकटमें डाल दिया था। महर्षि कक्षीवान् औशिज और कवष ऐलूषकी परम्परा भी वही थी। दीर्घतमस्के विकराल काले रंग या रूपसे कलिंगराजकी सह-धर्मिणी लो निश्चय डर गई पर दासी उशिजने महर्षिका आदर

किया और अभिसारोंके अन्तमें अनुगृहीत मातृत्वने कक्षीवान्की यशस्वी काया सिरजी। ऐलूष कवषकी कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें संचित है। आर्य-अनार्यके भेदभाव भूल महर्षि इलूषने दासीसे उसके शालीन सौन्दर्यका विलास माँगा। अभिसारोंके विलासके बीच दासीने पुत्ररत्न कवषको भेंट किया। ब्रह्मर्षिदेशके ऋषियोंने सरस्वती तीरकी अपनी यज्ञपरिधिमें पैठते कवषको देख पहले तो बहुत तेवर चढ़ाये। पर जब दासीपुत्रकी जिह्वापर उतर स्वयं सरस्वतीने उसके सूक्तोंमें ओज भरा, मरुकी तपी सिकता भूमिपर बहकर उस यज्ञधाराने माताके अभिसारोंका दैवी अनुमोदन किया तब ऋषियोंने कवषको मन्त्रद्रष्टाकी मर्यादा दी।

अहल्या, मन्दोदरी और ताराका यह उन्माद फिर हमारे महाभारतीय वीरोंकी जननियोंके अन्तरमें पैठा और एकान्तिक पौरुषकी शृंखला अपनी कड़ीपर कड़ी जोड़ती चली गई। गंगाने राजा शान्तनुको हस्तिनापुरके बहिरुपवनोंमें निहाल कर अभिसारोंके यौतुकमें जब आचार और ब्रह्मचर्यका आदर्श देवव्रत भीष्म प्रदान किया था तभी यमुनाके द्वीपमें कौरव-पाण्डवोंके उद्भवकी भूमिका तापस पौरुष और कमनीय कान्ति लिख रहे थे। मत्स्यगन्धा दासेयी सत्यवती पिताकी नौका लिये यमुना लाँघा करती थी। पराशरका तापस मन एक दिन उस सुकुमार कायाको देख डिग गया। अज्ञातयौवनाके लिए मुनिका कठिन कलेवर पहले केवल कुतूहलका विषय था पर धीरे-धीरे रसते पौरुषने मधुकर गुंजन द्वारा कलीका भावबन्धन खोल उसे विकसा दिया। फिर तो नदीके संकरे द्वीपकी बेंतस्थली वह प्रमदवन बनी जो राजाओंको भी नसीब न थी, और

अभिसारोंके परिणामस्वरूप जन्मे महाभारतके वीरोंके आदि पुरुष, तापस प्रपितामह कृष्ण द्वैपायन व्यास, व्यासगद्दियोंके आरभयिता, वेदोंके संहिताकार, इतिहास-पुराणोंके रचयिता, जिनके नामकी परिधिमें माता-पिताके अभिसारोंके अमर क्षण आज भी जिये जा रहे हैं।

और उसी सत्यवतीसे देवव्रतके पिता शान्तनुने भी अभिसार माँगा। पर जब तापसवर्तिनी निसर्ग कन्याने प्रस्ताव ठुकरा कोमल संस्कृत राजत्वका उपहास कर दिया तब पुत्रके भीष्मत्वने पिताका घर, स्वयं उससे बाहर हो, बसाया। अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका आईं। अम्बाकी भग्न-कामनाने शिखंडी बनकर अखण्ड ब्रह्मचर्यके प्रतीकको मिटा दिया, पर मृत चित्रांगदके अभावने जीवन्मृत विचित्रवीर्यकी विधवाओंका क्लेश सत्यवतीके अविवाहित मातृत्वको जगा दिया। सत्यवतीने अपने अभिसारके बेटे व्यासको आमन्त्रित किया। अभिमत न होते भी महर्षिके प्रयत्नका अम्बिका अम्बालिकाने आदर किया और घिनसे विरक्त कामयोगमें नेत्रनिमीलिता अम्बिकाने अन्ध धृतराष्ट्रको, और पुरुष रूपसे भयकम्पिता अम्बालिकाने पाण्डुर पाण्डुको प्रसव दिया। माता सत्यवतीने अम्बिकाको महर्षि द्वारा प्रेमसे फिर सिक्त होनेको कहा पर प्रस्तावको अंगीकार करके भी उसने दासीको सजाकर अपना स्थानापन्न कर दिया। दासीको स्वामिनियोंका प्रतिबन्ध न रुचा। उसने खुले अनुराग भरे अभिसारसे व्यासको भेंटा और विदुर-सा विनीत सर्वांग सुन्दर उद्बुद्ध तनय उत्पन्न किया।

कुन्ती अभी क्वाँरी थी, पर अभिनव यौवनकी मादक साधें

हियेमें घुमुड़-घुमुड़ उठने लगीं। प्रच्छन्न जारने सूर्यके हज़ार करों-से उसके अभिसारोंको सनाथ किया। पर जब परिणाम प्रकट हुआ तब अविवाहिताने डरकर सद्योजातको सन्दूक़में बन्दकर नदीमें बहा दिया। मिस्रमें इसी प्रकार माता द्वारा बहाये यहूदी मनु हज़रत मूसाकी कथा सम्भवतः तबके भारतमें अनजानी न थी। और कर्णके शौर्यने कालान्तरमें औरसोंकी शक्तिपर अट्टहास किया। पर औरसताका अभिमान कुरुओंको कभीका न था और कुन्तीने जब पहलेके अपने 'सूरज'की तरह, ताराके 'चाँद'की तरह, अहल्याके 'इन्द्र'की तरह, समाजके अपने यम-'धर्मराज'को वायु और इन्द्रको संकेत-स्थानकी नियत तिथियाँ दीं, तब धर्म और पराक्रमने युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनके रूपमें अवतार लिया। सपत्नीके अभिसार माद्रीके अनजाने न थे। लोहेको लोहेने काटा। कुरुकुलकी पर-म्पराओंसे वह अवगत थी। उसने भी अपने युगल 'अश्विनीकुमार' आमन्त्रित किये। समाजमें अश्विनीकुमारोंकी कमी कभी नहीं होती। वे आये और उन्होंने माद्रीको जुड़वें पुत्र दिये—नकुल और सहदेव, नकुल इतना सुन्दर कि अगम्यागमनके भयसे उसे मातृ-दृष्टिमें अपना रूप विकृत करनेके लिए सदा मिट्टी लपेटे रहना पड़ता था।

द्रौपदी भी कुरुकुलकी परम्पराकी जानकार थी पर उसे अपनी सासोंका, अपनी पितामहियोंका जीवन अभिमत न था। उसने पंचसंकेतित अभिसारको वैवाहिक उपचार दिया और उसके अनिश्चित शंकालु अस्थिर अस्तित्वको स्थायी दाम्पत्यकी व्यवस्था दी। साहसकी यह पराकाष्ठा थी। पहले अनजानी, पीछे अनाच-

रित। पर स्वयं द्रौपदीने तो अपने साहसका साका चला ही दिया। पुनीत पञ्चकन्याओंमें उसकी भी गणना हुई—अहल्या, मन्दोदरी, तारा और कुन्तीकी परम्परामें! और सुरसरिकी पावन धारामें मज्जन कर भवबन्धसे मुक्त होनेकी इच्छा करने वाले भक्त उसकी भी स्तुति करने लगे।

व्रजकी धराको तभी वासुदेव कृष्णने सनाथ किया। उनके अभिसारों और परप्रियाओंकी संख्या अनन्त है, सोलह हज़ार परिणीताओंसे भिन्न। पिछली बीस सदियोंसे ललित और लोक-साहित्य कृष्णके अभिसारोंकी कहानीसे गूँजते रहे हैं। बादके कविने सहज ही गीतगोविन्दमें उनके अभिसारोंका उल्लेख किया, मानभञ्जनके निमित्त प्रियाके चरणोंमें नतमस्तक श्यामको मुखरित किया—

स्मरगरलखण्डनं, मम शिरसि मण्डनं, देहि पदपल्लवमुदारम्!

ग्रीक नगरोंकी अभिसारकी कहानी तो रागरंजित है ही, रोमके अभिजातोंकी भी कुछ कम असाधारण नहीं। विरला ही अभिजात वहाँ था, जिसकी जननी पतिसे इतरकी प्रेयसी न थी। जूलियस सीज़र तो 'सभी पत्नियोंका पति' कहलाता ही था स्वयं सिसेरोकी उस दिशामें सत्ता अपरिमेय थी। नीतिमान और लोक-तन्त्रका रक्षक ब्रूटस स्वयं सीज़रका अनौरस पुत्र था, और उस अभि-जात, अत्याकर्षक जेनरल अन्तोनीकी माताने अनेक प्रख्यात रोमनोंके प्रति अभिसार कर मानवताको अपने इतिहास-प्रसिद्ध पुत्रकी भेंट की थी। और तभी नज़रथके बढ़ई यूसुफकी प्रतीतिपर भगवान्की छाया पड़ी और पवित्र आत्माने मरियमकी ओर संसारके कल्याणके

अर्थ देखा। मसीहाके साधु प्रवचन गैलिलीसे जुरूसलम तक गूँजे और वह गूँजती आवाज़ गला घुट जाने पर भी गुँजती रही, इस्रायलके बाहर सागरसे सागर तक।

पर यह सब कथा तो प्राचीनोंकी है, समर्थोंकी, जिनको कोई दोष नहीं व्यापता! ● ● ●

दिल्लीकी आपबीती

मैं दिल्ली हूँ। सल्तनतोंकी राख मेरे तनपर रमी है, मेरी रेतमें राजमुकुटोंके चूरे आज भी झिलमिला रहे हैं। जमुनाके तीर खड़ी जब-जब मैंने अँगड़ाई ली है तख़्त उलट गये हैं, ज़मानेने करवट ली है।

ज़मानेने करवट ली है कितनी ही बार, पर मैं न बदली, गो मुझे भोगनेवाले बदल गये। अपने धुँधले इतिहासपर जब नज़र डालती हूँ तब उसके पन्नोंसे चिपके हुए उन नज़ारोंको देखती हूँ जिनसे रोएँ एकाएक खड़े हो जाते हैं, खुशीसे भी डरसे भी। पिछले हज़ार सालोंके दौरानमें क़िस्मतके कितने धनी कितने कम्बख़्त मेरी राह गुज़रे हैं, शुमार नहीं कर पाती। प्रतीहार और गहड़वाल, तोमर और चौहान, पठान और तुर्क, खिलजी और तुग़लक़, सूर और सैयद, लोधी और मुग़ल, मराठे और अँग्रेज़ मैंने सबको देखा, एक एकको देखा, और उनके बीच-बीच देखी दर्दनाक ख़ूँरेज़ी, चंगेज़, तैमूर, नादिर और अब्दालीके करिश्मे। ज़मानेने जो दिखाया मैंने सब देखा पर अपनी पेशानीपर बल न आने दिया, नये साज दिनोंदिन साजती गई।

इसी जमुनाके तीर जहाँ आज इन्दरपतका गाँव है कभी पाण्डवों-का इन्द्रप्रस्थ खड़ा हुआ था। पर तब मैं न थी, वह इन्द्रप्रस्थ ही था जो लमहे भरकी रौनक़के बाद मिट गया। पाण्डव पहले

हस्तिनापुर पहुँचे, उनके वंशज फिर कौशाम्बी, और इन्द्रप्रस्थ इन्द्रपत गाँव बन गया।

हज़ारों साल बाद ज़माना बदला और तोमरोंने, क़रीब हज़ार साल हुए, ९९३ ई० में मेरी नींव डाली, उस इन्द्रपतके पास ही, उसी जमुनाके तीर। अनंगपालने चन्द्रगुप्तकी लाट महलके चौकमें ला खड़ी की और मुझे मेरा नाम 'दिल्ली' दिया। देखते ही देखते कन्नौजके गहड़वालोंका कब्ज़ा मेरे ऊपर हुआ पर अभी मैं नये स्वामीके करतलके स्पर्शसे अघाई भी न थी कि साँभर और अजमेरके चौहान राजा विग्रहराज बीसलदेवने झपट कर मुझे कन्नौजसे छीन लिया। साहित्य माधुरीसे उन्मत्त वह 'ललित-विग्रहराज' शस्त्रके धारणमें जितना प्रचण्ड था। नाट्यरसके विलासमें उतना ही निपुण था।

पर विलासकी मरजाद तो मेरी धरापर बाँधी उसके वंशज पृथ्वीराजने जो जितना ही कामुक था उतना ही तलवारका धनी भी था। एक ओर जहाँ वह महोबा और कालिंजरपर चोट करता दूसरी ओर वहीं वह लाट और गुजरातपर टूट पड़ता। चन्देलों-की शक्तिके टूटे कंगूरे आल्हा और ऊदल उसकी चोटसे अगनिक-की कहानी बन गये और कन्नौजकी संयुक्ताके अपहरणके लिए जो क़ीमत मुझे चुकानी पड़ी उससे मेरी नगरी वीरोंसे सूनी हो गई। कन्ह और कैमास पृथ्वीराजके दरबारके चाँद-सूरज थे जो उसी लड़ाईमें डूब गये।

और तब मैंने देखा तलावड़ीके मैदानमें जूझते राजपूतों और पठानोंको। मेरे ही लिए जूझ रहे थे वे पठान और राजपूत।

मैदान एक बार राजपूतोंके हाथ रहा पर दूसरी बार विलासी राय-पिथौरा गोरीके घोड़ोंकी बाग़ न रोक सका, ख़ुद हाथीसे घोड़े-पर कूद भागा और हज़ारों यज्ञोंसे पवित्र सरस्वतीके तीर पकड़ कर मार डाला गया। सिंदूर मेरे भालसे न पुँछ पाया मगर, बस हाथ बदल गये, साईं बदल गये—पहिले चौहान थे अब पठान और तुर्क हुए, मेरा अहवात बना रहा जैसे वह आज भी बना हुआ है।

पृथ्वीराजके टूटे महलोंके गिर्द मैं ख़ूनकी नई रवानी पा फिर खड़ी हुई और चन्द्रगुप्तकी लोहेकी लाटका अपमान करती कुतुब की वह लाट पास ही खड़ी हुई जिसकी सानी आज दुनियामें दूसरी नहीं। अल्तमश तब तख़्तपर था जब वह ख़ुदाई कोड़ा चंगेज़ केतुकी तरह हमारे आसमानपर उगा। ख़्वारिज़्मके शाह जलालुद्दीनका पीछा करता वह हमारे हिन्दुस्तानकी ओर बढ़ा। ख़्वारिज़्मका शाह काबुलके यिल्दिज़से जा टकराया। यिल्दिज़ भाँगा—आगे यिल्दिज़ पीछे ख़्वारिज़्मका शाह और उसकी पीठ-पर ख़ुदाई कोड़ा चंगेज़। आगे लाहौरका कुबाचा थर-थर काँप रहा था जैसे, और आगे, मैं दम साधे टक्करोंकी आवाज़ सुन रही थी। ख़्वारिज़्मका शाह सिन्धुनदमें कूदा और तैरकर निकल गया, यिल्दिज़ और कुबाचा इतिहाससे मिट गये, चंगेज़ सहसा लौट पड़ा, मैं बाल-बाल बच गई।

फिर पहली बार औरतका साया मेरे तख़्तपर पड़ा। रज़िया गद्दीपर बैठी, जैसे कभी दिद्दा कश्मीरकी गद्दीपर बैठी थी। तबकी दुनियामें कभी-कभी औरत मर्दको दोज़ानू कर देती थी। ईरानके

तख़्तपर तब आयशा थी और मिस्रकी गद्दीपर हावी थी सलादीनके भतीजेकी मलका वह शुजुरुद्दूर जिसने क्रुसेडोंकी लड़ाईमें बादशाह नवें लुईको क़ैद कर लिया था। हमारे तख़्तपर रज़िया थी। पर मुझे वह फूटी आँखों न भाई। औरतसे भला औरतका प्यार कब हुआ? पहिले हबशी याकूत फिर तुर्क अल्तुनियां और आख़िरमें जंगलकी ख़ाक छानती ज़िन्दादरगोर वह रज़िया—दर्द-की कहानी!

बलबनकी सख़्त हुकूमत उसकी औलादके लिए अभाग बन गई और तलवार ख़िलजियोंके हाथ आ रही। मेरा स्वामी अब अलाउद्दीन था जिसने अपने प्यार करनेवाले चचाकी कोखमें ख़ंजर घुसेड़ कर इतिहासपर वह स्याही फेरी जो बेईमानोंकी दुनियामें लामिसाल है। फिर गुजरात और देवगिरि, मालाबार और कांची रौंदकर उसने मुझे समूचे हिन्दुस्तानकी रानी बनाया। चित्तौड़का गढ़ धूलमें मिला उसने सिक्कोंपर अपनेको दूसरा सिकन्दर लिखवाया। उस काल मेरा नाम सिरी पड़ा और बाद तुग़लक़ाबाद।

तुग़लकाबाद तुग़लकोंकी कहानी है जिसका सरपंच मोहम्मद तुग़लकने धारण किया। मेरे ही द्वारपर जब अभी मैं अपने नये निर्माता गयासुद्दीनके स्वागतके लिए किवाड़ खोले खड़ी थी। बेटे जौनाने बाप ग़यासके ऊपर छत गिरा दी और बजाय बापके मेरे महलोंमें बेटे मोहम्मदने प्रवेश किया! एक ही सितमगर था वह भी, जितना ही पण्डित उतना ही मूर्ख! एक बार जो मौज आया तो उसने चीन जीतनेको फ़ौजें भेज दीं जो हिमालयकी बर्फ़ीली

चोटियोंमें गल गई। दूसरी बार उसने देवगिरिको दौलताबाद बना मुझे वीरान कर दिया। तबकी मेरी नंगी हालत अल्जियरके मुसाफ़िर और मेरे काज़ी इब्नबतूताने देखी और बयान की। चलो उसकी भी मिट्टी लगी और फ़िरोज़ने मुझे एक नया रूप दिया! मैं नये राज़से सजी, फ़िरोज़ाबाद कहलाई।

सैयदोंने हज़रतके बगलगीर होकर भी कुफ़्र फैलाया और दोज़ख़ मेरी ज़मीनपर नाज़िल किया पर मैं उनके हाथसे साफ़ निकल लोधियोंके साये जा बैठी और मेरे इतिहासका एक नया अध्याय शुरू हुआ। मेवाड़में शक्तिने करवट ली थी, एक नये जुगका आरम्भ हुआ था। राणा कुम्भाने मालवा और गुजरातकी मिली सेनाओंको हराकर चित्तौड़में अपना विजयस्तम्भ खड़ा किया था और अब उसके पोते राणा साँगाने पञ्जाबसे मालवा और गुजरातसे कालपी तक साम्राज्य खड़ा कर दो-दो बार मेरे कमज़ोर मालिक इब्राहिमको धूल चटा दी। पर धर्मशास्त्रोंका ग़ुलाम वीरवर साँगा मुझे छूना पाप समझ जमुनाके पार न उतरा, मैं ललचाई नज़रों देखती रही।

काबुलकी घाटीमें उन्हीं दिनों एक ग़ज़बका बहादुर फ़रग़नासे उतरा था जिसने अपने पूर्वज तैमूरका तख़्त जीत-जीतकर खो दिया था और जो तैमूर और चंगेज़की मिली औलाद था। चंगेज़की यादसे मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं और तैमूरने जो आफ़त मेरी ज़मीनपर कुछ ही साल पहले बरपा की थी वह कैसे भूली जा सकती है? उन्हींकी सन्तान काबुलका बाबर जो पानीपतमें उतरा तो उसने शहाबुद्दीनकी कहानी दोहरा दी, इब्राहिमको उखाड़ मेरे

तख़्तपर आ बैठा। पर वीरवर साँगा बियानाकी ओर बढ़ा आ रहा था और मैं बाबर और राँगा दोनोंको बारी-बारी निहार रही थी। सीकरीके मैदानमें जब राणा अपने राजपूतोंके साथ बाबरकी तोपोंके मुँह बन्द करता हुआ जूझ गया तब मुग़लोंकी नई सल्तनतकी जड़ें मेरी ज़मीनमें दाख़िल हुईं।

फिर बिहारके अफ़ग़ान शेरशाहको मैंने बाबरके बेटे हुमायूँको दर-दरका भिखारी बना राजपूताना और पंजाबको, मालवा, गुजरात और बंगालको रौंदते देखा और तभी इस देशके इतिहासमें पहली बार डाक बटते देखी। हुमायूँ लौटा और उसके बेटे अकबरने मेरे तख़्तपर बैठकर जिस बुद्धिमानी और ग़ैरमज़हबी नेकनीयतीसे मुल्कपर हुकूमत करनी शुरू की वह मेरे फ़ख़्रकी कहानी है। अशोकको तो मैंने देखा नहीं पर दूसरा बादशाह इस नेकनीयतका मेरे तख़्तपर कभी न बैठा, सो जानती हूँ। अकबरके बाद मुंसिफ़-मिज़ाज और कलापरवर जहाँगीर आया फिर आलीशान शौक़ीन-मिज़ाज शाहजहाँ जिसका बनवाया ताजमहल दुनियाका अचरज है, और फिर वह औरंगज़ेब जिसने कलाको दफ़ना दिया। पर अब मैं काबुलसे हैदराबाद तककी ज़मीनकी स्वामिनी थी। इतना आन बान मेरा कभी चौकस न हुआ था, न इतना मेरी शानो-शौकतका साका कभी चला था जितना अब चला।

पर किसकी दुनिया भला यक्साँ रही है? मेरी भी यक्साँ न रह सकी। ईरानके गड़रिया सुल्तान नादिरने मुझे लहूलुहान कर नेक मोहम्मदसे जवाहिरोंका वह फ़ख़्र कोहेनूर छीनकर मुझे तबाह

कर दिया। मराठोंकी चोट अभी मैं भूली न थी कि अब अब्दाली आया और मुझे ज़ख़्मी कर गया।

फिर अंग्रेज़ आये। राजधानी कलकत्ते उठा ले गये। १९११ में फिर मेरी क़िस्मत पलटी और जार्ज पञ्चमने मेरे तख़्तपर अपने विदेशी पैर रक्खे। ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी हुकूमतके ख़िलाफ़ जो आज़ादीके दीवानोंने सन् सत्तावनमें बग़ावत की थी वह दबा दी गई थी और उसके बाद पहली बार इंगलैण्डके बादशाहने मेरी ज़मीनपर पैर रक्खे थे। कुछ काल बाद शाहजहाँके बसाये शाहजहानाबादके उत्तर मेरी नई अंग्रेज़ी दुनिया सर एडविनने बसाई और मैं 'नई दिल्ली' कहलाई।

देशमें सन् पाँचसे ही अंग्रेज़ोंके ख़िलाफ़ जनताके आन्दोलन शुरू हो गये थे। क्रान्तिकारियोंको मैंने अपनी आँखों लार्ड हार्डिंज-पर, फिर भगतसिंहको एसेंबलीके हालमें, बम फेंकते देखा। सन् एक्कीसका असहयोग आन्दोलन भी मैंने देखा था, सन् इकतीस-की लगानबन्दी भी देखी थी और सन् बयालीसकी इन्क़लाबी लड़ाई भी। कांग्रेस और दूसरी जनशक्तियोंने सन् पैंतालीसमें देशको आज़ाद कर लिया, गो देश दो हिस्सोंमें बँट गया। और तभी मैंने वह देखा जो मुझे न तैमूर दिखा सका था न नादिर, न अब्दाली। देखा उन टूटे हुए लोगोंको जिनका ज़ख़्मी काफ़िला जिस्मसे ख़ून टपकाता बाहरसे देशमें मेरी राह चला आ रहा था, मेरी राह देशसे बाहर चला जा रहा था!

आज़ादी सन् सैंतालीसमें पूरमपूर मिल गयी, पर अभी उसकी मदहोशी मिटी भी न थी कि मेरी ज़मीनपर मुल्कको आज़ाद

करनेवाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीका एक पागलने ख़ून कर दिया। मेरी हवामें इतनी कराह कभी न उठी थी, मेरी ज़मीन आँसुओंसे इतनी गीली कभी न हुई थी जितनी अब हुई। मेरा कभी हताश न होनेवाला दिल भी एक बार बैठ गया। सूरज जो दूसरे दिन मेरे महलोंके पीछेसे निकला तो बोला, जैसा कल था वैसा आज नहीं!

हज़ार सालकी अपनी ज़िन्दगीमें बराबर बनती-बिगड़ती रही हूँ। आज भी नई दुल्हनकी सजधजसे खड़ी हूँ, अपनी पीठपर सिरी, तुग़लकाबाद, जहाँपनाह, फ़िरोज़ाबाद, शाहजहानाबादके खंडहर और अपने सीनेपर नई दुनियाके, नये महलोंके, नई राष्ट्रीयताके अरमान उठाये। जानती हूँ, यही आख़ीर नहीं है, पर जो हो रहा है, होनेवाला है, उससे उदासीन भी नहीं हूँ—अभी तो चैनसे गुज़रती है आक़बतकी ख़ुदा ख़ैर करे! ● ● ●

कोलाहलमें एकाकी

उस कोलाहलमें मैं एकाकी था। कोलाहल एक देवासुर-संग्रामका नाम है जिससे उसकी कर्णभेदी हो-हल्लेकी स्थिति प्रकृत ही सिद्ध है। वैसा ही कोलाहल तब भी था जब मैंने धरापर पहली साँस ली, जब मैं कुछ समझने लायक हुआ। और उस कोलाहल-के बीचमें एकाकी था, निपट अकेला।

ब्रह्माचरण, ब्रह्मघोष, यज्ञ और बलि, कर्मकाण्डसे पुरे जीवनके नारे थे और उन नारोंके बीच ज्ञान-अज्ञानका जीवन मटमैला बहता था। जहाँ-तहाँ उसमें गहराइयाँ थीं जिनमें इक्के-दुक्के जीव डूबते-उतराते थे, जहाँ तटपर नहानेवालोंकी भीड़ लगी रहती थी और उस भीड़में अनेक ऐसे भी थे जो जलको बस देखते थे, उन्हें मज्जनका सुख उपलब्ध न था, पर उस मज्जनके माहात्म्य-की माला वे भी जपते थे। और समूची दुनिया इसी कोलाहलमें डूबी हुई थी।

कोलाहल वह देवासुर-संग्रामका न था, ज्ञान और अज्ञानका था, अन्न और अन्नादका, भोजन और उसे खानेवालेका। शायद वह देवासुर-संग्राम ही था। छुटपनमें देखता कि छिपकली पतंगे-पर ताक लगाये बैठी है, पतंगा जब-तब उड़ता है, अपनी जगह-पर लौट आता है फिर निष्पन्द बैठ रहता है और छिपकली धीरे-धीरे नीरव उसकी ओर निरन्तर सरकती जाती है। फिर एक क्षण

ऐसा आता जब पतंगा छिपकलीकी दाढ़ोंके बीच होता, उसके मुँहमें आधा भीतर आधा बाहर, तड़फड़ाता, पंख मारता, घुटती साँसकी रक्षा करता। ऐसे ही देखता कि मकड़ी जाल फैलाये मक्खीकी प्रतीक्षामें बैठी है। मक्खी उड़ती-उछलती आती है, जालेके इर्द-गिर्द चक्कर काटती है और अचानक एक बार उसका पंख या पैर जालेमें फँस जाता है। फिर तो मकड़ीका निष्क्रिय शरीर सहसा क्रियमाण हो उठता है, अपने मुँहसे तन्तु उगलती वह मक्खीको बड़ी तेज़ीसे बाँधने लगती है। पहले जितनी तेज़ीसे वह मक्खीको बाँधती है उसी तेज़ीसे मक्खी अपनी आज़ादी और प्यारी जानके लिए लड़ती है। पर उसी मात्रामें जिस मात्रामें मकड़ीकी तेज़ी बढ़ती है मक्खी निष्पन्द होती जाती है, फिर निश्चल हो पड़ती है, मकड़ीका अन्न, भोज्य। और मकड़ी तब उसका रक्त अपने रक्तशोषकोंसे सोख लेती है। पर जब तक पतंगा और मक्खी ज़िंदा रहते हैं अपने प्राणोंके लिए लड़ते हैं, और छिपकली और मकड़ी उन्हें तभी लील-पचा पाते हैं जब उनके प्राण निकल जाते हैं; मकड़ी भी नहीं, चाहे उसका उपक्रम छिपकलीसे अधिक कौशलपूर्ण अधिक बेबस कर देनेवाला होता है।

सही ज़िंदगी जीते-जी पर मारती है, बचनेकी लाख तद्बीर करती है, पर है तो आख़िर वह मौतकी ही, मैं सोचता, पर स्वयं निष्पन्द हो रहता, जब कोई जवाब नहीं सूझता कि क्यों ज़िन्दगी मौतकी है, क्यों चट्टानकी छाती फाड़कर लहलहा उठनेवाला दूबका अंकुर सहसा पालेसे जल जाता है? एक तीरसे सात तालोंको बेध देनेवाला अमनुजकर्मा पराक्रम एक दिन शिथिल और

निस्तेज हो जाता है, सो क्यों ? समूचे युगका यंत्रवत् संचालन करनेवाले वासुदेवके समन्वित दर्शनका अन्त इतना हेय क्यों है, बहेलियेके बाणका शिकार ? क्यों सत्तर साल तक दिशाओंको अपनी टंकारसे निरंतर गुंजाते रहनेवाला सव्यसाचीका गाण्डीव एका-एक निष्क्रिय हो जाता है ?

धूपसे अधिक छाँव क्यों है ? हँसीसे अधिक रुदन क्यों ? प्यारसे अधिक अत्याचार क्यों ? मानवसे अधिक पशु क्यों ? पशु पशुके रक्तका प्यासा ! पशु मानवके रक्तका प्यासा ! मानव पशुके रक्तका प्यासा ! मानव मानवके रक्तका प्यासा ! क्यों ?

कपिलवस्तुकी प्राचीरोंके भीतर शाक्योंके ख़ूनी तेवर ! कुल-का शत्रु कुल। शाक्यों और कोलियोंके धानके लिए, धानके खेतोंके झगड़े ! रोहिणीके जलके लिए, गोचर भूमिके लिए, आखेटके पशुके लिए ! शाक्य और कोलिय, कोलिय और मोरिय, मोरिय और मल्ल और इन सबका राहु कोसल ! क्या इस अन-वरत संघर्षकी, इस अटूट जनहितहानिकी कोई इति नहीं ? इस अनन्त अस्वास्थ्यकी कोई ओषधि नहीं ?

मानव मानवमें अंतर ! मानवोंके गाँव, जनपद, राष्ट्र, सभी बँटे हुए, परस्परविरोधी, जनपदोंकी प्राचीन भूमिपर नवोदित राष्ट्रोंके संघर्ष और अभियान। मानवोंके वर्ण और वर्ग, ब्राह्मण-क्षत्रियोंसे भिन्न वर्णोंकी हेयता, जिसे इतने उदार और विचारचेता होकर भी स्वयम् गुरु विश्वामित्र तक हेय नहीं मानते।

वर्ण-विधान ! 'पुरुषसूक्त' ! 'पुरुष'के मुखसे, बाहुओंसे, जाँघों-से, पैरोंसे प्रादुर्भूत प्राणियोंकी परस्पर समता कैसी ? इसीसे कुछ

मनुपुत्रोंकी संज्ञा ऋग्वेदने चौपायोंके साथ 'दोपाये' दी—द्विपद्‌श्चतुष्पदः ।

और गुरु विश्वामित्रका वह आश्रम जहाँ मैं स्वयम् कभी 'समित्पाणी' हुआ था ! वहाँ मैं आजकी ही भाँति तब भी एकाकी था, सैकड़ों छात्रोंके बीच निपट एकाकी । नंद और देवदत्त तो किसी प्रकार उनमें घुलमिल जाते थे, यद्यपि हम तीनोंका ब्रह्माचरण अन्य शाक्यकुमारोंसे भिन्न था, अलग, पर मेरी समस्याएँ दूसरी थीं, ब्रह्माचरणके रूढ़ि मार्गसे सर्वथा भिन्न ।

और आश्रमका वह ब्रह्माचरण ! गुरुके समीप अन्य क्षत्रिय-ब्राह्मण कुमारोंकी ही भाँति उपनीत मैं भी हुआ था । वेद और ब्राह्मण मैंने भी पढ़े थे, उपनिषद् भी । परन्तु वे वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् !

वेदोंमें ब्राह्मणोंके देवताओंके प्रति यज्ञ और कर्मकाण्ड जीवन-पर हावी थे, 'ब्राह्मणों'का विज्ञान उनके नामसे ही प्रकट है, और उपनिषदोंका सत्य तो बस केवल राजर्षियोंका ही जाना था—अश्वपति कैकेयका, प्रवहण जैवलिका, अजातशत्रु वाराणसेयका, जनक विदेहका—वह आत्मतत्त्व जिसका रहस्य उनसे आरुणि और श्वेतकेतु, बालाकि और याज्ञवल्क्य तक सीखते थे ! और जिस प्रकार वेदोंमें जीवनपर कर्मकाण्ड और टोने-टोटके हावी थे वैसे ही उपनिषदोंमें ब्रह्मका राहु सत्यके प्राणोंको ग्रस रहा था । वेदोंमें तो ब्राह्मणोंकी योजना केवल खाने-पकाने तक ही सीमित थी, पर यहाँ उपनिषदोंमें राजर्षियोंने, जिनको खानेकी खोज न थी, अन्नके जिनके भण्डार भरे थे, अवकाश अनन्त न था, खुले सत्यको भेदभरा

रहस्य बना दिया, रहस्यमयी वाणीकी गाँठ लगा प्रकटको प्रच्छन्न कर दिया !

और वेदोंकी अपौरुषेयता ! वह अकायिक, आध्यात्मिक तो दूर घोर कायिक और पार्थिव सम्पदा थी, नितान्त पौरुषेय। इन्द्र-इन्द्राणीके आलाप कोई गुन देखे, इन्द्रके कौतुकमय घिनौने प्रश्न और इन्द्राणीके उतने ही घिनौने उत्तर, और उन दोनोंके बीच वृषाकपिके दोमुखी कथोपकथन—इतना वीभत्स यदि कोई साहित्य कभी लिखा गया तो बस उत्तरवर्ती 'ब्राह्मणों' का, उनमें अश्वमेधके अवसरपर राजमहिषी तथा मूढ़ाश्वके सम्बन्धपर किया गया हास-उपहास। यम और यमीका वह खुला यौन वार्तालाप और चन्द्रमा-बृहस्पतिपत्नी और इन्द्र-गौतमपत्नी तथा दूसरोंके जाराचरणोंके वे स्पष्ट उल्लेख—वीभत्स, भड़ैती और आचार-विहीनताकी अमर्यादा !

और उसी ऋग्वेदकी वह पशुबलि जिससे गुरुनामधारी राजर्षिने ऋषिपुत्रकी रक्षा की थी—कितना भयानक वह कार्य था कितना मर्महर, कितना लोमहर्षक ! आज भी मन्त्रोंकी उस वाणीमें जो शुनःशेपकी आवाज़ भरी वह सहसा सुन पड़ने लगती है, कानोंमें गूँजने लगती है, हृदयमें कोलाहल उत्पन्न कर देती है, देवासुर संग्रामका कोलाहल। पर देव कौन थे ? असुर कौन थे ? पुत्र बेचनेवाले ब्रह्मर्षि या बलिके देवता, या स्वयम् मानव बलि, या उनके मुक्तिदाता राजर्षि ?

और वेदोंकी वाणी, ब्राह्मणों-आरण्यकों-उपनिषदोंकी वह वाणी, सूत्रोंकी, जो देवताओंकी थी, ब्रह्मकी थी, मानव महात्माओंकी।

वह संस्कृत थी, आज भी शिष्टोंकी है। निश्चय मेरी नहीं है, क्योंकि मैं शिष्ट नहीं हूँ, भद्रवर्गीय नहीं हूँ, केवल प्रकृत हूँ, सम्भवतः परम्परया संस्कारहीन! प्राकृत बोलता हूँ, जनबोली पाली—जनोंकी ही जनतामें-से एक, वस्तुतः सर्वथा एक, प्रायः उस जनतासे भी भिन्न क्योंकि उनमें जनबलको, उनकी सामूहिक आस्था और निष्ठा अकेला मैं ही देख पाता हूँ, नातपुत्तके बावजूद अकेला मैं ही देख पाया।

सोचा, संकल्प किया, यही जनबोली पाली बोलूँगा, गाँव और जनपदकी बोली, निम्नवर्गकी बोली, अशिष्टोंकी बोली, जिससे अपनी बात उनकी समझमें आनेवाली भाषामें कह सकूँ, उन अशिष्टोंसे, गँवारोंसे, मैं स्वयम् अशिष्ट, स्वयम् गँवार!

पर उस गँवार बोलीने शिष्टोंके रहस्यकी पेटीकी गाँठ काट दी और गाँठ कटते ही जो पेटीका भण्डाफोड़ हुआ और सबने देखा तो उसमें सिवा रीती बातोंके कुछ भी न था, स्वर्गके सुखों, अप्सराओं और व्यंजनोंकी कल्पित कामनाके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जिसने उसे देखा वह विरत हुआ, वेदोंसे, ब्राह्मणोंसे, उपनिषदोंसे, देवताओंकी वाणीसे, वर्ण-विधानसे।

महाभिनिष्क्रमण तो मेरे आकुल अन्तरका प्रसार मात्र था। मैंने भी पहले वहीं खोजा जो साधुसम्मत था, गुरु विश्वामित्रके आश्रममें, निगण्ठ-नाटपुत्त, पुराण-कस्सप, मक्खलि-गोशाल, अजित-केशकम्बलिन्, पकुद्ध-कच्चायन, संजय वेलट्ठपुत्त, आलार कालाम, उद्दक रामपुत्तके आश्रमों और संघोंमें आजीविकों, जटिलकों, मुँड-सावकोंमें, परिव्राजकोंमें, तेदण्डिकोंमें—उन सैकड़ों-सैकड़ों साधु-

व्यापारी संतोंमें जिन्होंने अपने सत्यकी, अपने आध्यात्म्य और ब्रह्माचरणकी, अपने तप और दर्शनकी घोषणा की थी !

और मैंने देखा, सच देखा, कि उनकी प्रतिज्ञाएँ भ्रामक थीं, अनेक बार मिथ्या, प्रवंचनापूर्ण भी। समित्पाणी होकर भी जो कैशोरमें गुरुके आश्रममें 'विदग्ध' न हो सका था, सो अब हुआ, उन आश्रमों और उनके विरक्त दर्शन-साधक महात्माओंको देख-समझकर, अपने प्रश्नोंके उत्तरमें उनकी निर्घोषपूर्ण पर रिक्त वाणीकी तथ्यशून्यता लखकर, दुःखकी समस्याका उनसे उत्तर न पाकर।

और तब चल पड़ा था तपके साधनसे संबोधिकी खोजमें उरुवेलाकी ओर—राजगृहके पीछे महाकान्तारमें। तप न फला मुझे, काया जीर्ण हो चली और शरीरको प्रसन्न कर ही मैंने पीपल-की छायामें ज्ञान गुना, संबोधि पाई। मेरे ज्ञानसे उन 'सुपर्णों'का कोई सम्बन्ध न था जो वेदोंके पीपलपर बैठे गोदे खाते एक-दूसरे-को देखते थे। मैं पीपलके पल्लवग्राही पक्षियोंसे भिन्न था, उसकी छायामें बैठा अपने ही तत्त्वबोधसे मुखरित, मध्यम मार्गका आश्रयी।

पैंतालीस वर्षोंका यात्री मैं, मैं यतियोंकी राहका मुसाफ़िर, पर यतियोंसे भिन्न, मगध, वैशाली, कोसल, वत्सके पथोंका पथिक। एकसे पाँच हुए, पाँचसे पाँच सौ, और फिर पाँच हज़ार, और संघकी स्थापना हुई, शक्ति बढ़ी। जामुनके पेड़ तलेका, पुष्करिणीके तीरका वह बालचिंतक उरुवेलाके पीपलकी छायाका संबुद्ध तथागत हुआ, सुगत उसकी संज्ञा हुई, श्रावक और भिक्षु

अनन्त संख्यामें उसकी मज्झिम पटिपदाके मार्गवर्ती हुए। पर स्वयम् वह कहाँ है ? क्या निर्वाणमें प्रवेश करता इन शाल-वृक्षोंके बीच, इस कुशीनाराके बाहर रोते-बिलखते भिक्षुओं, उपासकोंके बीच, वह स्वयम् संदिग्ध नहीं कि उसके और सत्य तो मात्र सत्य हैं, पर दुःख निरोधकका साधन शायद दुःखके निरोधमें सफल न हो। पर इस भरे परिवारके बीच इस शंकामें भी अकेला हूँ, मात्र सुगत ही अकेला है। उसने जिनकी घोषणाओंका उपहास किया था संभवतः उन्हींकी भाँति उसकी घोषणा भी दर्शनोंकी सूचीमें नथ जायगी। पर जीवनके लिए यह अत्यन्त विलास और अत्यन्त तपके बीचका मार्ग क्या स्वयम् पर्याप्त नहीं है ?

और अब अपने इस सत्यके सन्देहको लिये निर्वाणमें प्रवेश करता हूँ—दियेकी बातीपर वातका प्रभाव नहीं, नीरव निष्पन्द वह बल रही है, निर्वात, और मैं दुःख और सुखकी समीकृत अवस्थामें स्वयम् निष्पन्द चला जा रहा हूँ, अकेला, निपट अकेला। ● ● ●

कबीर अमेरिकामें

अट्टालिकाओं-इमारतोंकी अनन्त परम्परा, मोटरों-बसोंका अटूट सिलसिला, लोगोंकी भीड़ अपरम्पार। हर सड़कपर, सड़कके हर मोड़पर। और लोग तेज़ीसे बढ़ते हुए, मुँहमें पाइप या सिगरेट दबाये सड़कें लाँघ रहे हैं। अपनेआप चौराहोंपर लाल रोशनी हो जाती है और लोग चलते-चलते थम जाते हैं, गाड़ियाँ असुर वेगसे दौड़ पड़ती हैं, रोशनी हरी हो जाती है, ठमके लोग चल पड़ते हैं। जब गाड़ियाँ चलती हैं वे फ़ुटपाथोंपर चलने लगते हैं, जब गाड़ियाँ रुक जाती हैं वे सड़कें लाँघने लगते हैं। सभीको जल्दी है, क्या जल्दी है, कोई नहीं जानता, पर चलते सब तेज़ हैं। चलते तेज़ हैं, क्योंकि यह अमेरिका है, न्यूयार्क, अस्सी लाख बाशिन्दोंका नगर!

और उसी न्यूयार्कमें पाँचवीं एवेन्यूकी सड़कपर फ़ुटपाथके सहारे एक जन चला जा रहा है। सिरपर उसके एक कुलहदार ऊँची टोपी है, छोटी सफ़ेद दाढ़ी है उसके, एक कन्धेपर ताने-बानेका साज़ है, दूसरेपर काली कमली है, कमरमें कछनी है, बाक़ी सारा जिस्म नंगा है, जैसे पैर नंगे हैं। हाथमें सूत सम्हालने-वाली छोटी-सी एक कड़ी है, बुननेवाली ढरकीके साथ। ये कबीरदास हैं जो मैडिसन एवेन्यू लाँघ २९ वीं सड़कसे पाँचवीं एवेन्यूमें आ निकले हैं।

ऐसे आदमीका न्यूयार्ककी इस महलोंकी सड़कपर होना एक घटना है। दुकानोंके शीशोंके पीछे सजी चीज़ोंसे नज़र हटा लोग सहसा ठमक जाते हैं, हैरतमें आ कबीरदासको घूरने लगते हैं, कानाफूसी करने लगते हैं।

कबीरदास ख़ुद हैरतमें हैं। बनारसके पक्के महालकी याद आती है और चली जाती है। यह तो न्यूयार्क है, पक्के महालकी उसके सामने क्या हक़ीक़त? दुकानोंमें शीशोंके भीतरके नर-नारी-पुतले बिकनेवाली चीज़ें तनपर धारे ऐसे लगते हैं जैसे क़यामत आ गई हो और मुरदे जाग उठे हों, अनेक मुद्राओंमें, मुख़्तलिफ़ दम-ख़ममें। कबीरसाहब चुपचाप कुछ गुनते, कुछ गुनगुनाते धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी इमारत पार करते, इमारतें ऐसी जैसी वतनमें न तो ख़िलजी बनवा सके थे, न तुग़लक़, न लोधी। कबीरसाहब जब बैकुण्ठसे उतरे थे तभी फ़रिश्तोंने कह ज़रूर दिया था कि यह दुनिया ही और है, पुरानीसे न्यारी, बिलकुल नई, यह फ़राडे और एडिसनकी दुनिया, बिजली और रेडियोकी, इंजिनियरों और मोटरोंकी, होटलोंकी। पर बात उनकी समझमें कुछ आई न थी, ताना-बाना कन्धेपर रखा था, चल पड़े थे।

और कबीरदास एम्पायर स्टेट बिल्डिंगके सामने जा खड़े हुए। आँखें उठीं और उठती गईं। कन्धेसे ताना-बाना सरका, टोपी कुछ हिली। एक सौ पाँच मंज़िलकी ऊँचाई कुछ कम नहीं होती। साहबोंकी भीड़ उन्हें देख रही थी, वे एम्पायर स्टेट

बिल्डिंगको देख रहे थे, घट-घटका साहब इमारतके पीछे छुप गया था, महात्माके मुँहसे सहसा साखी निकल पड़ी—

की यह मन्दिर-मकबरा, की मस्जिद-बीमान।
कौन मुअज्जिन बांग दे, पूजे कौन सुजान॥

लोग उन्हें एलिवेटरसे इमारतकी चोटीपर चढ़ा ले गये। डेढ़ मिनट लग गया संसारका तेज़-से-तेज़ उड़नेवाला एलीवेटर ऊँची-से-ऊँची इमारतकी चोटीपर पहुँचनेमें इतना वक़्त नहीं लेता। साधु उतरे तो वैकुण्ठसे हवामें ही थे पर इस एलिवेटरकी उड़ान न्यारी थी। साँस ऊपरकी ऊपर, नीचेकी नीचे रह गई, कानोंमें वह आवाज़ गूँजी अनाहत जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। स्थिति जब समझमें आई तब साधु मुसकराये, धीरे-धीरे बोले—

नहिं मन्दिर नहिं मक़बरा, नहिं मस्जिद न बिमान।
पाहन पर पाहन धरा, साईं बना पखान॥

कबीर साहबको लोगोंका तेज़ चलना समझमें नहीं आया। ऐसी जल्दी क्या है, भगदड़ क्यों मची है इस क़दर? आख़िर क्या भागा जा रहा है? न राम-रहीमका भजन है, न साधु बानी, न सत्संग?

तब किसीने बताया—यह सब डालरके लिए है, लोग अपने-अपने व्यापारमें लगे हैं, डालर यहाँका धन है। और जब महात्माने यह तथ्य जाना तब अनायास मुँहसे साखी निकल पड़ी—

डालर का ही जीमना, डालर सुते बिछाय।
डालर पीछे जग मुआ, अलखहिं कौन जगाय॥

कछनी काछे 'झीनी-झीनी चदरिया बिनते' कबीरसाहब एक दिन कैलिफ़ोर्नियाँ जा पहुँचे, लास एंजिलिसमें डेरा डाला। हालीवुडके ठाट देख अक़्ल चकरा गई। देखा, औरतें मर्दोंसे दो हाथ आगे। पहले तो यही समझमें नहीं आया कि इनमें औरत कौन है, मर्द कौन है! तितली-सी फर्र-फर्र उड़ जानेवाली इस तिरियाको कबीरने न जाना था, उसकी मनहर काया तो गुरुकी भी मति मार ले। सजग होकर बोले—

माया केरी पूतरी, तन तरकस मन बान।
तिरिया धावै रथ चढ़ी, पुरुखहिं करै निसान॥

और कबीरदास अमेरिकाके पहाड़-जंगलोंकी राह छानते फिर पूरब लौटने ही वाले थे कि हालीवुड ऐण्ड वाइन नामके चौराहे-पर सहसा फ़िल्म बनानेवालोंने उन्हें घेर लिया। शाम हो चुकी थी, सड़कें करोड़ों बत्तियोंसे जगमगा उठी थीं। बीसियों 'मूवी' कबीर साहबका चलचित्र बनाने चले, सैकड़ों बल्बोंकी रोशनीमें आँखें चौंधिया चलीं। फ़िल्म-तारिकाएँ हाव-भाव द्वारा उन्हें छेड़ने लगीं, प्यारकी विविध भावभंगियोंसे उन्हें 'बाक्स-हिट' फ़िल्ममें घेर ले चलीं। कमली कन्धेसे सरककर सड़कपर आ रही, ताना-बाना गायब हो गये, ढरकी-छड़ीका कहीं पता न था। भीड़-भड़क्केमें कोपीन और काछा दोनों नदारद! पर हाँ, उनकी जगह अजीब रेशमी सुनहले तन्तुओंसे बना पट तनपर चमक रहा था।

तभी किसीने कबीर साहबको दरपन दिखा दिया—'हाय करतार! यह क्या हुआ?' कहते कबीर भागे, और जब दूर जाकर जान बची तब बोले—

कहाँ भगत की काछनी, कहाँ राम यह भेस।
चलो हंस घर आपने, छोड़ अनोखा देस॥

कबीरके पास डालर न थे और बग़ैर डालरके वैकुण्ठी देव-दूतोंके बावजूद अक्सर उनकी कहीं रसाई नहीं होने पाती। क्या करे अमरीकी ? उसके पास दिल है, दर्द भी है, पर बग़ैर डालरके कबीरदासको वह बसमें कैसे चढ़ाये, अपनी पाताल-गाड़ियोंमें कैसे घुमाये ? आख़िर 'डियेम' तो चाहिए ही, चाहे वह दे चाहे कबीरदास दें! हाँ, कबीर साहब अगर जगह चाहें, नौकरी करना और डालर कमाना चाहें तो बेशक़ वह उनकी मदद करेगा। कब्रे है, ओपा है, बर्लेस्क है, जहाँ चाहें काम मिल सकता है। हाँ, ज़रा सभ्य तो बनना ही होगा। अपना भेस—वह कमली-काछा, वह टोपी क्लाउन जैसी—ज़रा अलग कर दें। दुनियामें क्या नहीं है ?—ब्राडवेकी ओर निकल जाँय, जाकिट, हैट, टाई, पैंट, जूते सब मिल जायँगे, लमहेभरमें। ख़रीदना न चाहें, किरायेपर ले लें, या क़ीमत इंस्टालमेंटपर थोड़ा-थोड़ा करके चुका दें!

और कबीरदासका अन्तर बिलबिला उठा—उन्होंने साखी कही—

जब डालर चेतन मनुज, चेतन जड़ में खोया।
लख जड़ साईं चेतन बन्दा, दास कबीरा रोया॥

• • •

यादें

यह दर्द है जिसे ज़िन्दगीके मोल ख़रीदा है। ज़िन्दगीके मोल ख़रीदी जानेवाली चीज़ कितनी अलभ्य, कितनी अनमोल होती है, कैसे बताऊँ ? जिगरको चाक कर देनेवाला दर्द है यह, कि जैसे दिलको कोई हाथोंसे मस्ले दे रहा है। और जिये जा रही हूँ—

अभी मरना बहुत दुश्वार है ग़मकी कशाकशसे,
अदा हो जायेगा यह फ़र्ज़ भी फ़ुरसत अगर होगी।

बात पुरानी है, आजसे कोई बयालीस साल पुरानी, जब मैं अठारह सालकी थी। अठारह सालकी आज मेरी पोती है, वह, जो उस भरे कदम्बके नीचे खड़ी अंगड़ा रही है। उसी कदम्बकी डालोंमें मैंने तब झूला डाला था अब मेरी पेंगोंके उभार पेड़के फलोंको लजा देते थे। और उसी कदम्बके नीचे उसने मुझे पहले-पहले देखा था, पर झूलेपर नहीं, कवँल-दलके बीच। मेरे यहाँ सरवर नहीं, बावली तक नहीं जिसमें कँवल बिकसें, कोईं फूले। पर कही उसने मुझे कवँल-दलके बीच बिहँसती पद्मिनी ही। और कवँल तोड़ लिया उसने एक दिन, बिना उसे परसे। बिना परसे तोड़ा उसने कवँल, अनजाने और उसकी वह पद्मिनी, स्वयं अनजाने, एक दिन अपने ही वृन्तपर झुक गई।

वह पुरानी बात है, बयालीस साल पुरानी, जब वह साधकी दुनिया उठी थी, और आँखोंपर छा गई थी। सालपर साल गुज़-

रते गये थे, रैनपर रैन नयनोंकी पलकोंपर नाचती तारोंकी छाँवमें सरक गई थी, मतवाले दिन गिरते झरनोंकी तरह बह गये थे। चार साल, चार-चार साल जिनके प्रत्येक निदाघ, प्रत्येक पावस, प्रत्येक शीत बस मधुमास थे, मात्र मधुमास।

और एक दिन सारे मधुमास पतझड़ हो गये। गङ्गा-जमुना बह चलीं। पखेरूका पर जैसे गिरकर कायामें लौटता नहीं, मैं भी न लौटी। लौट न सकी, उसकी कातर आँखें देखती रहीं, मछलीकी-सी पलकहीन, आकाशकी तरह शून्य आँखें, स्वच्छ नील, गीली आँखें जो अब सूख गई थीं और जिनकी दृष्टि आज भी, लगता है, कुछ खोजा करती है।

उसने नारी जानी थी, घटा-सी उठती नारी, श्वेत-जैतूनी-पीली, पर जैसे उसने नारी जानी न थी, उसके आवर्तमें कभी आया न था। मनकी भूख, तनकी भूख तब सहसा जग उठी थी, पर भूख मर गई, आहार अनखाया बासी हो गया, जलाशयका थमा जीवन उसके कण्ठको गीला न कर सका। और एक दिन जब अन्तरकी निठुर आग उसके हियेको झुलस गई तब मुझे पद्मिनी कहने वाला कोई न रहा।

जीवन लाँघे आज उसे दो जुग हो गये, दो समूचे जुग, चौबीस बरस। अठारह बरस उसने मेरा रहस्य ढोया था। दूरके इस कोनेसे सदा उसके दिलकी धड़कन सुनती रही थी, धड़कन जो सूनेमें कोलाहल बन जाती, कानके परदे फाड़ चलती, और जिसे आज भी, जुगों बाद सुनती जा रही हूँ। वह तो सँपर गया पर मैं न सँपर पायी। सँपरना मेरे बसकी बात भी नहीं। कौन मर

सका, जो अपनी कज़ासे न मरा ? सो मरना भी दुश्वार है, गरचे जानती हूँ—

दिलकी हालत नहीं बदलनेकी,
अब यह दुनिया नहीं सम्हलनेकी ।

दुनियाकी सम्हाल ! दुनियाने जो सम्हाला तो दोनों लुट गये । एक दूसरेसे लुट गया, गो दुनिया सम्हलती रही, सम्हालती रही । मुहब्बतकी ईमानदारी बुरी होती है, टीसोंकी सौगात लिये आती है, कज़ाकी अमर कहानी लिये । झूठेका साया बड़ा है, उसका आलम बड़ा है, उसकी साख बड़ी है । सचको जीतते कभी देखा नहीं, कहानी गो सुनी है ।

और आज उसके सँपर जाने पर यादें और आने लगी हैं, बेतरतीब, बेदर्द यादें । उसकी पेशानीका एक बल नहीं भूला, दीदार जैसे आँखोंकी राह रोक उनमें समाया जा रहा है । वैसे याद सदासे बेक़रारी लाती रही है पर अब उसकी पीर बर्दाश्तका दायरा पार कर चुकी है—

यूँ तो दिलको कभी क़रार न था,
अब बहुत बेक़रार रहता है ।

यादें आती हैं, आये जा रही हैं । जब मेरी ज़नानी मजबूरी-ने असालतन-कानूनन मुझे ग़ैरकी गोदमें डाल दिया तब एक दिन उस मजबूरीकी लाज उसने रख ली थी । क्योंकि अपने दर्दको दबाये, कुचले हियेकी चोट भूल मेरी चीख़ती-पुकारती मौन आवाज़-को उसने भाषा दी थी, मेरी ही बात मुझसे ही कह दी थी,

जिससे मैं जानूँ कि वह मुझे समझ रहा है, जिससे जो कुछ बच रहा है फिर भी बचा रह जाय। और उसने पतझड़को बहारसे परसते हुए कहा था—

जो चीज़ नहीं बसकी फिर उसकी शिकायत क्या?
जो कुछ नज़र आता है, अच्छा नज़र आता है।

और पतझड़ जैसे कलिया गया था। पर पतझड़ क्या सच कभी कलिया सका, बेरौनक़ विवसित नंगा पतझड़? वसन्त आया पर नया वसन्त, एक दूसरी ज़िन्दगीका वसन्त जिसको दूसरी हवाने परसा, नई साधोंने सँवारा, जिन्होंने पुरानेपर परदा डाल दिया। पहले, बहुत पहले, जब अभी फूल अपनी टहनीसे गिर दूसरे वृन्तपर अटका भी न था कि उसने कहा था—

If I should meet thee—
After long years,
How should I greet thee?—
With silence and tears!

'विथ साइलेन्स ऐण्ड टियर्स'! हाँ, अगर हम मिलते तो शायद ऐसे ही मिलते, मौन, निःशब्द, झरते आँसुओंके पावस तले। पर दैव कि उसने हमें मिलने न दिया!

पर एक दिन जब बहार जवानीपर था, जब हवा हल्की नीरव बह रही थी, उसमें जब रुईका वरक़ उठा सकनेकी भी ताब न थी, तभी उड़ता-उड़ता एक काग़ज़ कहींसे आ गया था, काग़ज़ कि जो ज़हरबुझे बानकी तरह पैना था, कि जिसके फलकपर, जिसकी बदरंग ज़मीनपर सफ़ेद सतहपर कुचली ज़िन्दगीकी गहरा-

इयाँ लिखी थीं, कि जिसके ज़रिये कुचली ज़िन्दगीने इन्तज़ारसे थककर टहनी-टहनी फूलती ज़िन्दगीको बेपनाह कोसा था, बेअन्दाज़ गाली दी थी। लाइनें दो ही थीं, परायी ज़बानमें लिखीं, पर तेज़ और तीखी, जो शायद अपनी ज़बानकी इबारत इज़हार न कर पाती। गाली शायद दिगर ज़बानमें ज़ियादा चुभती है। ख़ैर, उसे पढ़ा मैंने—

This record will for ever stand,
'Woman, thy vows are traced in sand.'

सच है, सदा सच रहेगा यह कलाम, कभी झूठ न होनेकी यह बानी—नारी, तेरे क़ौल रेतपर लिखे हैं, उनके मिटते देर क्या लगती है!

और जैसे हरी पत्तियाँ हल्की आँचसे जलतीं धुँवासी ऐंठती चली गई थीं। क्या बात यह ग़लत है? क्या सचमुच मुझे बीता ज़माना बिसर नहीं गया था? क्या मैं भरी दुनियामें खो नहीं गई थी? क्या मनके चोरको मैंने कभी, अकेलेमें भी, पहचानना चाहा था? उलटे क्या यह नहीं चाहा था कि अब न आये याद उस बिसरेकी जिसकी याद बस बिगाड़ ही सकती है, बना नहीं सकती? और बेजा बजा हो गया था, रवाँ ज़मानेने बीतेको झटक दिया था, बेरुतबा कर दिया था।

और अब जब ठंडी राखके नीचे दबी चिनगारी अपनी कमज़ोर पर ख़तरनाक चमकसे सहारा ढूँढ़ती है तब जैसे उसे सहारा मिल जाता है, मिल गया है, एकके बाद एक चली आतीं बीती बातोंका सहारा, सूखे तिनकोंका, जिनका जैसे मक़सद है बस जल मरना।

दबी चिनगारीको तिनका दे दिया था उसके बलिदानने। वह अब नहीं रहा था। जिगरमें तीर मारती चली गई थी उसके गुज़र जानेकी ख़बर। एक अटकी-सी दुनिया जो अकारन बेमानी जी रही थी, सहसा मिट गई थी। अब वह बेशक लौटनेकी नहीं क्योंकि ज़मीनके परदेसे वह मिट गई है। पर अहसास क्या कभी मिटा है? याद क्या कभी मिटी है?

और याद जो बेमानी ज़िन्दगीकी हो, गाड़ीके पाँचवें पहियेकी, बेजवाब सवालकी, वह रहती है, रह जाती है, रह गई है। बालपनकी सखीने बड़े दर्दके साथ अतलकी गहराइयाँ आवाज़में डाल उस आवाज़को दुहराया था जो अब न रही पर जिसे उस बालपनकी सखीने सुना था—

> ऐ इनक़लाबे-आलम! तू भी गवाह रहना,
> काटी है उम्र हमने पहलू बदल-बदल कर!

काटा था कुछ ज़माना हमने भी पहलू बदल-बदल कर। पर पहलू धीरे-धीरे जो गरम होने लगा तो बेचैनी जाती रही थी और धीरे-ही-धीरे एक नई ज़िन्दगीने अँगड़ाई लेकर पहलेके बुने तार तोड़ दिये थे। तार, कि लगा, अब न जुड़ेंगे, कि अब जो बिसर गया वह सपना भी न रहा, कि जो बीत गया सो बात गई। पर अब है कि यादोंने करवट ली है और मकड़ीकी तरह अपने ही तनसे उगला जाला बुनती जा रही हूँ, और कभीका उजड़ा बियाबाँ फिर भरता, फिर आबाद होता चला जा रहा है। काटकर गुज़र गया वह अपनी उम्र, चाहे पहलू बदल-बदलकर ही सही। यहाँ तो अब पहलू बदलनेकी भी ताब न रही। जिस्म जिधर लगा बस उधर

ही लगा रह जाता है और चुप्पी जैसे अपनी हज़ारी जीभोंसे चाट उठती है। चुप्पीकी आवाज़ जब तब इतनी ऊँची हो जाती है कि, लगने लगता है, कोलाहलके बीच पड़ी हूँ। यादोंकी घुमड़ती गूँज झिंझोड़ने लगती है, फिर खोई आवाज़, अपनी आवाज़की भनक पानेके लिए कुछ बोल उठती हूँ, हल्के-से एक नाम ले लेती हूँ, बड़े हल्के-से, डरसे कि जैसे ज़माना अपने हज़ार कान खोले वही नाम सुने जा रहा हो, कि जिसे सुनकर वह अपनी हज़ार ज़बानोंसे दुहरा दे, कि भेद खुल जाय, कि छिपा ज़ाहिर हो जाय।

और फिर ख़ामोश हो जाती हूँ, गुनने लगती हूँ। उसने कहा था—जाओ, चली जाओ ख़ामोश। वियोग अभी ताज़ा है इससे तीखा है। जब दूरी भरे अन्तरको सूना कर देगी, जब सूनेको नई साखसे नई साधोंसे भर देगी तब कुछ न अखरेगा, यह दर्दका निर्दय दिन भी नहीं। जाओ, चली जाओ।

और मैं चली आई थी। आज जब इन जुगोंके पार अपने ही बनाये अपने ही बसाये संसारसे विरस मन चुप हो जाता है, जब स्मृतिमें एकके बाद एक अनवरत छायाएँ डोलने लगती हैं, तब फिर ख़ामोशी बढ़ चलती है, इतनी कि सुध-बुध खो जाती है, एक अजीब सुन्नपन जिस्मपर छा जाता है। तब जैसे मनपर डोलती छायाएँ भी धीरे-धीरे विलीन हो जाती हैं और बस दिलकी धड़कन सुन पड़ने लगती है, पहले धीरे ही धीरे फिर ऊँची, ज़ोर-ज़ोरसे, जितनी पहलूमें उससे कहीं ज़ियादा कानोंमें—

और लगता है, जैसे यही ठीक है, क्योंकि दिलके धड़कनेसे ज़िन्दगीकी पहचान शायद होती रहती है, गो ज़िन्दगी जीनेके

लिए, यह चुकी-फटी ज़िन्दगी जीनेके लिए कोई हसरत अब नहीं रही। फिर भी दिलके धड़कते रहनेसे ख़ामोशीमें एक राहत मिलती है, आस्था, कि कोई साथ है, कि अकेली नहीं हूँ। दिलको ही मुख़ातिब कर धीरे-धीरे कहती हूँ—

ख़ामोशीसे मुसीबत और भी संगीन होती है,
तड़प, ऐ दिल, तड़पनेसे ज़रा तसकीन होती है!

● ● ●